प्राण तत्त्व

(कोश, चक्र, कुण्डलिनी)

योगी आनन्द जी

प्राण तत्त्व

योगी आनन्द जी

प्राण विद्या के विषय में पूर्ण रूप से जानने वाला अभ्यासी श्रेष्ठता को प्राप्त हो जाता है।

प्राण तत्त्व

(कोश, चक्र, कुण्डलिनी)

प्रथम संस्करण

ISBN 978-93-5311- 171-7

© लेखक
योगी आनन्द जी

प्रकाशक :
स्व-प्रकाशित
मुद्रक :
भार्गव प्रेस,
11/4, बाई का बाग, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश – 211003

anandkyogi@gmail.com

http://www.kundalinimeditation.in/

http://www.youtube.com/c/YogiAnandJiSahajDhyanYog

https://www.fb.com/sahajdhyanyog/

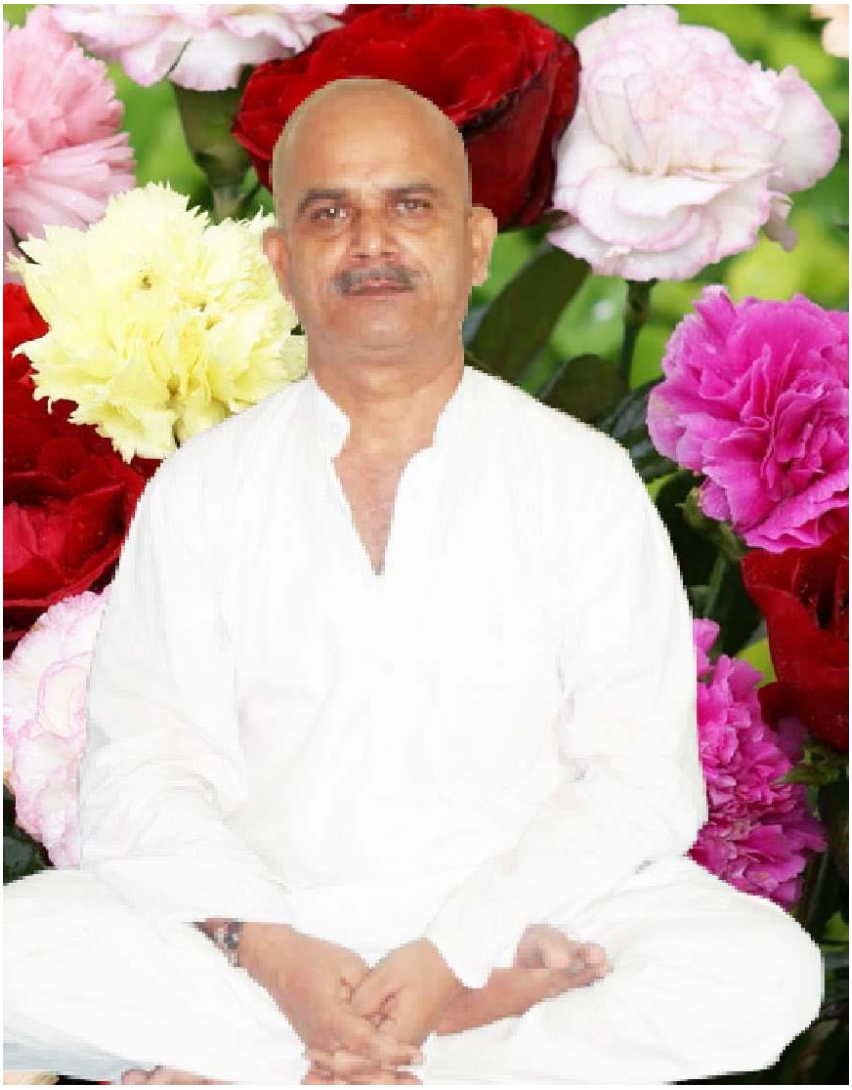

योगी आनन्द जी

विषय सूची

क्र०सं०	नाम	पृष्ठ
1.	प्रस्तावना	7
2.	सत्य वचन	8
	भाग–1	
3.	प्राण तत्त्व का महत्त्व	11
	भाग–2	
4.	वायु तत्त्व द्वारा ब्रह्माण्ड की सृष्टि	36
5.	प्राणायाम का स्थूल और सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव	37
6.	वायु तत्त्व का सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होना	38
7.	इंजीनियर ब्रह्मा	39
8.	प्राणी	40
9.	मृत्यु के समय प्राणों का कार्य	41
10.	मृत्यु के समय प्राण निकलने के अनुसार आगे की गति	45
11.	धनञ्जय प्राण	51
12.	हृदय की धड़कन बन्द होने के बाद भी मस्तिष्क का जीवित रहना	51
13.	मृत्यु के समय योग के अभ्यासी को कष्ट न होना	53
14.	मृत्यु के बाद भूख और प्यास की अनुभूति	55
15.	वायु तत्त्व के सहयोग से जन्म ग्रहण करना	58
16.	वायु तत्त्व की प्रधानता से कुछ देवताओं की उत्पत्ति	61
17.	वृत्तियों के स्वरूप में वायु तत्त्व की प्रधानता	63
18.	कुण्डलिनी-शक्ति का स्वरूप वायु तत्त्व के रूप में	65
19.	प्राण तत्त्व और शक्तिपात	67
20.	प्राण तत्त्व द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त होना	71

21.	मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा	74
22.	प्राणों की शुद्धता में भोजन का महत्त्व	77
23.	प्राणों द्वारा रोग दूर करना	79
24.	वायु तत्त्व से बना सूक्ष्म शरीर का नष्ट न होना	81
25.	प्राणों के भिन्न-भिन्न कार्य	85
26.	अशुद्ध प्राणवायु के कारण क्रियाएँ होना	87
27.	मृत्यु पर प्राणों के संयम का प्रभाव	90
28.	प्राणायाम के द्वारा सर्दी और गर्मी का न लगना	94

भाग–3

29.	प्राणों को शुद्ध कैसे रखें	98
30.	प्राणों के शुद्ध होने पर	112
31.	चक्र	117
32.	सहस्त्रार चक्र	134
33.	चक्रों का वर्णन	138
34.	कुण्डलिनी-शक्ति	144
35.	कोश	174
36.	आनन्दमय कोश	176
37.	विज्ञानमय कोश	179
38.	मनोमय कोश	180
39.	प्राणमय कोश	181
40.	अन्नमय कोश	181
41.	कोशों की शुद्धि	184
42.	तत्त्वज्ञान के समय प्राण तत्त्व की अवस्था	188
43.	लेख के अन्त में	200

प्रस्तावना

अपने साधना काल के आरम्भ से लेकर आज तक मैंने देखा है कि अधिकांश साधक ध्यान तो करते हैं, परंतु प्राणायाम को उचित महत्त्व नहीं देते हैं। इसके फलस्वरूप नियमित अभ्यास के बावजूद उनकी आध्यात्मिक उन्नति द्रुत गति से नहीं हो पाती। साधारण लोगों से लेकर साधक तक प्राण तत्व के विषय में विस्तृत ज्ञान न होने के कारण उसके महत्त्व को नहीं समझ पाते, जबकि प्राण हमारे जीवन में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है, और प्राण शुद्धि साधना में उन्नति के लिए अपरिहार्य है। इसी दृष्टि से मैंने इस महत्त्वपूर्ण विषय पर किंचित प्रकाश डालने का प्रयास किया है।

प्राणों की शुद्धि का महत्त्व केवल साधकों के लिए ही नहीं, वरन साधारण लोगों के लिए भी बहुत है। प्राणों के अशुद्धता के कारण लोग विभिन्न प्रकार के रोगों से ग्रस्त रहते हैं, अंग-अवयव ठीक ढंग से काम नहीं कर पाते, एवं अपनी क्षमता का पूरा उपयोग नहीं कर पाते। प्राणों की शुद्धि का महत्त्व और उसके उपायों के विषय में स्पष्ट रूप से वर्णन करने का प्रयास किया गया है। इसके अलावा प्राण तत्त्व के विषय में आरम्भ से लेकर अन्त तक बारीकी से समझाने का प्रयास किया गया है, किस प्रकार अपरा-प्रकृति अपना सृजन आकाश तत्त्व में अधिष्ठित होकर वायु तत्त्व (प्राण तत्त्व) द्वारा करती है, ब्रह्माण्ड रूपी बड़ा पिण्ड और शरीर रूपी छोटा पिण्ड में वायु तत्त्व ही सर्वत्र व्यवस्थापूर्वक क्रिया कर रहा है, जन्म से लेकर मोक्ष पर्यन्त प्राण तत्त्व किस प्रकार व्यवहार करता है, शरीर में प्राण की भूमिका, प्राणों की अशुद्धि का प्रभाव, कोश, चक्र और कुण्डलिनी आदि अनेक विषयों को समझाने का प्रयत्न किया गया है।

अनेक साधक मुझसे अपनी जिज्ञासाओं की पूर्ति एवं साधना में प्रगति के लिए अनेक प्रश्न करते रहते हैं। चूंकि असंख्य लोगों को व्यक्तिगत रूप से उत्तर देना संभव नहीं है, इसलिए मैंने इस पुस्तक के माध्यम अत्यंत उपयोगी जानकारी उन तक पहुंचाने के लिए यह उद्योग किया है। आशा है पाठक इस पुस्तक से लाभान्वित होंगे, और प्राण तत्त्व के महत्त्व को समझकर उसकी शुद्धि हेतु यत्न करेंगे।

– योगी आनन्द जी

सत्य वचन

सृष्टि से लेकर प्रलय तक तथा जन्म से लेकर मृत्यु तक प्राण तत्त्व ही प्रधान रूप से विद्यमान होकर कार्य कर रहा है। स्वयं अपरा-प्रकृति आकाश तत्त्व में अधिष्ठित होकर प्राण तत्त्व (वायु तत्त्व) से अपनी रचना करती है। इसी रचना के अनुसार अन्दर-बाहर समान रूप से विद्यमान होकर प्राण तत्त्व जीवनदायिनी शक्ति के रूप में जीवन प्रदान कर रहा है। सर्वशक्तिमान आकाश तत्त्व में स्थित हुआ प्राण तत्त्व शक्ति के रूप में विद्यमान रहता है। इसी प्राणशक्ति के अभिव्यञ्जक स्वरूप इच्छा-शक्ति, क्रिया-शक्ति, विद्युत शक्ति, दाहिका शक्ति, आकर्षण शक्ति आदि है। जहाँ पर शक्ति शब्द का प्रयोग किया जाए, वहाँ पर इसी प्राण तत्त्व का ही स्वरूप है।

मनुष्य के शरीर में व्याप्त हुआ प्राण तत्त्व जब तक शुद्धता को प्राप्त रहता है, तब तक उसके शरीर के सम्पूर्ण अंग पुष्ट होकर भली-भाँति क्रिया करते रहते हैं। वह व्यक्ति निरोगी और प्रखर बुद्धि से युक्त होकर साधारण मनुष्य से श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करता है। परंतु यदि इसी प्राण तत्त्व में मलिनता आ जाए, तब वह विकार युक्त होकर शरीर के अंगों को पुष्ट नहीं रख पाता है, जिसके फलस्वरूप विभिन्न प्रकार की व्याधियों से युक्त हो जाता है। प्राणों की शुद्धता मस्तिष्क को पैना और मन को स्थिर बनाती है। इसका सीधा प्रभाव चित्त की शुद्धता पर पड़ता है। जिसने प्राणों का संयम करके चित्त को शुद्ध बना लिया है, उसने इस मानव जीवन को श्रेष्ठ बना लिया है। ऐसा मनुष्य आध्यात्मिक पथ पर चलता हुआ अपने निज स्वरूप में अवस्थित होने के निकट आता जा रहा है तथा अन्त में जन्म-आयु-मृत्यु से छुटकारा पा लेता है। जिसने प्राण तत्त्व के महत्त्व को न समझकर संयम करने का प्रयास नहीं किया है, वह इसी भ्रम से युक्त संसार में अज्ञानता के कारण तृष्णा से युक्त हुआ, जन्म-आयु-मृत्यु को प्राप्त होता हुआ, कष्टों को भोगता रहता है।

वर्तमान समय में ज्यादातर अभ्यासियों की असफलता का कारण प्राण तत्त्व की शुद्धता को महत्त्व न देना ही है। जिसने कठोर अनुशासन में रहकर अभ्यास द्वारा अपने प्राणों को शुद्ध

कर लिया, वह सफल हो जाता है। इसीलिए मैंने संक्षेप में प्राण तत्त्व के विषय में बताने का प्रयास किया है। सभी अभ्यासियों को अपना प्राण तत्त्व सदैव शुद्ध बनाये रखना चाहिये। इस शुद्धता का महत्त्व सिर्फ अध्यात्म पथ पर चलने वालों के लिए ही नहीं है, बल्कि सामान्य जीवन व्यतीत करने वाले गृहस्थों के लिए भी है, क्योंकि प्राणों की शुद्धता का प्रभाव स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दोनों पर ही होता है।

योगी आनन्द जी

भाग-1

प्राण तत्त्व का महत्त्व

प्राणायाम के अधिकारी वे पुरुष होते हैं, जो ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले हैं, जिनका नियमित रूप से आहार-विहार अच्छा है, स्वभाव सरल, श्रद्धालु और सत्य का अनुसरण करने वाले हैं। मगर जो पुरुष किसी भी प्रकार के नशीले पदार्थों का सेवन करने वाले हैं, वे प्राणायाम के अधिकारी नहीं हैं। इसलिए प्राणों की शुद्धि की इच्छा रखने वाले पुरुषों को नशीले पदार्थों का सेवन पूर्ण रूप से सदैव के लिए त्याग देना चाहिये। यम-नियम का पालन न करने वालों को इसका उचित लाभ प्राप्त नहीं होता है, इसलिए अभ्यासी को यम-नियम का पालन अवश्य करना चाहिये; तथा उनके मन में स्थूल लाभ की ही नहीं, बल्कि सूक्ष्म रूप से आन्तरिक विकास की भावना होनी चाहिये। पूर्वकाल में गुरुकुल में गुरु स्वयं अपने मार्गदर्शन में अपने शिष्यों को अभ्यास करवाते थे। गुरुकुल में शिष्यों को पहले वहाँ के कार्य, मौन-व्रत, उपवास, मंत्र-जाप आदि का भी अभ्यास कराया जाता था, तब प्राणायाम का प्रभाव उन शिष्यों पर शीघ्रता से पड़ता था अर्थात् उचित लाभ प्राप्त होता था। प्राणायाम का अभ्यास गुरु के सामने करने से किसी प्रकार का अवरोध नहीं होता है। अगर प्रारब्ध वश कुछ अवरोध या परेशानी आ भी गयी, तब गुरु शक्तिपात करके उस अवरोध को दूर कर देते हैं।

बहुत से अभ्यासी बिना मार्गदर्शक के ही प्राणायाम करना शुरू कर देते हैं। उनका कहना होता है – "प्राणायाम के अभ्यास में गुरु की क्या आवश्यकता है? जैसा पुस्तक में लिखा है वैसा ही तो कर रहा हूँ।" ऐसी अवस्था में अभ्यासी को समुचित लाभ प्राप्त नहीं होता है। इसलिये अभ्यासी द्वारा कई वर्षों तक प्राणायाम का अभ्यास करने के बाद भी नाड़ी शोधन नहीं हो पाता है तथा मन की चंचलता आदि बनी रहती है। प्राणायाम के द्वारा नाड़ी शोधन न होने पर अभ्यासी विभिन्न प्रकार के लाभों से वंचित रह जाते हैं।

प्राण विद्या की सूक्ष्मता के जानकार यथार्थ गुरु या योगी आजकल भी बहुत से हैं, मगर समय के प्रभाव से ऐसे गुरु या योगी दिखाई नहीं देते हैं। वे अपने आप को छिपाये रहते हैं

क्योंकि वे इस स्थूल जगत के सम्पर्क में नहीं रहना चाहते हैं। दूसरी तरफ ऐसे भी प्रसिद्ध गुरु हैं जो बोलने में तो निश्चय ही कुशलता को प्राप्त हैं, मगर उनका स्वयं का अभ्यास नहीं होता है। इसीलिए साधकों को सद्गुरु को पहचानने में बहुत परेशानी होती है और अक्सर वे अनुभवहीन को गुरु बना लेते हैं। ऐसे अनुभवहीन गुरु के शिष्यों का आध्यात्मिक मार्ग प्रशस्त नहीं होता है। कई वर्षों के अभ्यास के बाद नतीजा कुछ नहीं निकलता है अर्थात् आध्यात्मिक उन्नति नहीं होती है। ऐसे गुरु अपने शिष्यों का इस प्रकार का मार्गदर्शन करते हैं कि उनके शिष्य अपने गुरु को ब्रह्म के समान ही मान लेते हैं अर्थात् अज्ञानता के बन्धन में वह अपने आपको इतना बाँध लेते हैं कि सत्य को स्वीकार नहीं कर पाते हैं। ऐसे अन्धविश्वासी शिष्यों को अगर देखा जाए और पूछा जाए कि अभी तक आपकी आध्यात्मिक उन्नति कितनी हुई है, तब उनके शिष्य आध्यात्मिक उन्नति के नाम पर यही कहेंगे कि हमारे गुरुदेव की हम पर अपार कृपा है और भौतिक उपलब्धियाँ बताना शुरू कर देंगे। मैंने ऐसे बहुत से शिष्यों को देखा है जो अपनी आध्यात्मिक अवस्था को लेकर भ्रमित हैं। वे उस अवस्था वाले नहीं होते हैं, फिर भी वह ऐसा माने हुए रहते हैं कि उन्हें यह अवस्था प्राप्त है।

जिस योगी या महापुरुष के शिष्य उच्चावस्था को प्राप्त कर चुके हों, उन्हें गुरु बनाना चाहिये। जिस गुरु के शिष्य उच्चावस्था को प्राप्त नहीं हुए हैं, उन्हें गुरु नहीं बनाना चाहिये। सिर्फ संख्या पर न जाएँ कि अमुक गुरु के इतने अधिक शिष्य हैं, इसलिए मैं भी दीक्षा ले लूँ, ऐसा बिल्कुल उचित नहीं है। एक बात का अवश्य ध्यान रखें कि आवश्यकता पड़ने पर आप अपने गुरु से अध्यात्म मार्ग में आई समस्याओं व अवरोधों को बता सकें और निवेदन कर सकें कि आपका आध्यात्मिक मार्ग आगे की ओर कैसे प्रशस्त होगा। वर्तमान समय में मैंने ऐसे शिष्यों को देखा है कि वे अपने गुरु से बात ही नहीं कर पाते हैं क्योंकि उनके गुरु के शिष्य इतनी ज्यादा संख्या में हैं कि उन्हें अपने शिष्यों की समस्या हल करने का अवसर ही नहीं मिलता है। सिर्फ किसी प्रसिद्ध गुरु का शिष्य बन जाने के मात्र से आध्यात्मिक योग्यता प्राप्त नहीं हो जाती है। आध्यात्मिक उन्नति के लिए गुरु द्वारा बताये गये नियमों का पालन करते हुए अभ्यास करना चाहिये। जब शिष्य के अभ्यास में प्रारब्धवश कोई अवरोध आ जाए, तब शिष्य अपने गुरु को

अपने अवरोध के विषय में बताकर समाधान करवा ले। सद्गुरु निश्चय ही शिष्य की समस्या को दूर करने का उपाय बताएँगे अथवा शक्तिपात द्वारा उस समस्या का हल कर दिया जाएगा।

सद्गुरु भी सरलता से नहीं मिलते हैं। कुछ गुरु अपने आप को छिपाये रखते हैं, इसीलिए शिष्य भी योग्य गुरु का हावभाव देखकर भ्रमित हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में शिष्य को अत्यन्त कठोर परीक्षा से गुजरना पड़ सकता है, तब शिष्य को विवेक से कार्य लेना चाहिये अर्थात् गुरु के सामने शरणागत हो जाए, यही श्रेष्ठ है। अगर ऐसी अवस्था में शिष्य का अज्ञान और अहंकार आड़े आ गया, तो उसके जीवन का सुअवसर व्यर्थ चला जाएगा। जीवन के ऐसे महत्त्वपूर्ण मोड़ पर सरल, शांत एवं सन्तुष्ट रहना चाहिये तथा तर्क-वितर्क वाली बुद्धि का त्याग कर दें। सद्गुरु सब जानते हुए भी कभी-कभी न जानने का नाटक भी करते हैं; ऐसी अवस्था में सांसारिक इच्छाओं से रहित होकर अध्यात्म प्रसाद की इच्छा से युक्त हुआ शिष्य गुरु की शरण में चला जाए। एक बात को सदैव याद रखना चाहिये– आपको गुरु कैसा और कौन मिलेगा, यह स्वयं आपका पूर्व काल का कर्म निश्चित करेगा। इसलिए कुछ शिष्यों को उनके सद्गुरु बिल्कुल आसानी से मिल जाते हैं, उन्हें ढूँढने में अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। कुछ शिष्यों को गुरु बहुत ढूँढने के बाद मिलते हैं। कुछ शिष्यों को गुरु अभी तक नहीं मिल पाये हैं, सिर्फ भटक रहे हैं। कुछ शिष्यों को गुरु मिले, मगर उनसे सन्तुष्ट नहीं हैं, क्योंकि वह अपने गुरु से बात कह ही नहीं सकते हैं। यह सब कुछ आपके कर्मों का फल है, इसलिए आप गुरुओं को दोष न दें। अपने जीवन में अच्छे कर्म करो, ताकि भविष्य में सद्गुरु की प्राप्ति हो। सद्गुरु ही अपने मार्गदर्शन द्वारा शिष्य को इस दुःख भरे संसार के जन्म, आयु और मृत्यु के चक्र से मुक्त करा सकते हैं।

प्राणायाम का अभ्यास करने से पहले आसन का अभ्यास करना अति आवश्यक है क्योंकि प्राणायाम करते समय आसन लगाकर ही अभ्यास किया जाता है। प्राणायाम करते समय रीढ़ सीधी रखनी अनिवार्य है। आसन कम से कम आधा घण्टा अवश्य सिद्ध होना चाहिये। जब उससे आगे का अभ्यास करना हो, तब एक घण्टे का आसन सिद्ध होना अनिवार्य होता है। आसन सिद्ध हुए बिना योग का अभ्यास नहीं किया जा सकता है।

प्राणायाम का अभ्यास स्वच्छ स्थान पर करना चाहिये, जहाँ पर किसी प्रकार का शोर आदि न हो। खुले वातावरण में प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये, मगर यह ध्यान रखना चाहिये कि तेज वायु के थपेड़े अभ्यासी के शरीर में नहीं लगने चाहिए। प्राणायाम कभी भी ऐसे स्थान पर नहीं करना चाहिये, जहाँ शुद्ध वायु के अभाव में घुटन-सी महसूस हो रही हो क्योंकि वहाँ पर स्वच्छ ऑक्सीजन की मात्रा अत्यन्त कम होती है। ऐसी अवस्था में दूषित वायु में मिले कण फेफड़ों में ज्यादा मात्रा में विद्यमान हो जाते हैं।

प्राणायाम दिन में दो बार सुबह और शाम अवश्य करना चाहिये। अगर साधक अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए दृढ़तापूर्वक प्रयासरत है, तब दिन भर में तीन बार प्राणायाम अवश्य करना चाहिये। प्राणायाम का अभ्यास करते समय अभ्यासी को मूल बन्ध अवश्य लगाये रखना चाहिये। इससे अपानवायु सदैव ऊर्ध्व उन्मुख बनी रहती है, परिणामस्वरूप मल-मूत्र त्याग उचित समय पर होता रहेगा। उस क्षेत्र से सम्बन्धित विकार और रोग दूर होकर निरोगी बनने में सहायक होते हैं, तथा प्राणों का दबाव मूलाधार चक्र पर पड़ने के कारण कुण्डलिनी जागरण शीघ्रता से होने लगता है। प्राणायाम करते समय तीनों बन्धों का प्रयोग भी करना चाहिये, इससे मूलाधार चक्र पर प्राणों का दबाव पड़ने लगता है।

प्राणायाम द्वारा ग्रहण की गई वायु सीधे फेफड़ों में जाती है। दूषित वायु प्रश्वास के द्वारा बाहर फेंक दी जाती है। ऑक्सीजन रक्त में मिलकर सम्पूर्ण शरीर में पहुँचती रहती है। आमाशय में उत्पन्न हुई वायु डकार के रूप में बाहर निकल जाती है, यह दूषित वायु होती है। जो वायु आँतों में उत्पन्न होती है वह शरीर के निचले द्वार से बाहर निकल जाती है। यह वायु भोजन से उत्पन्न होती है। वायु का रूपान्तर ही जीवनदायिनी शुद्ध स्वरूप प्राण तत्त्व होता है। यही प्राण तत्त्व मुख्य रूप से पाँच प्रकार से कार्य करता है, इसलिए पाँच प्रकार के प्राण कहे जाते हैं। प्राणायाम करते समय फेफड़ों में जो वायु अपने इच्छानुसार रोकते हैं और छोड़ते हैं, उसका प्रभाव प्राणों पर पड़ता है। यह प्राणवायु फिर विशेष रूप से क्रियाशील होने लगती है।

स्थूल शरीर के अन्दर सूक्ष्म शरीर व्याप्त रहता है। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का आपस में सम्बन्ध अति सूक्ष्म रूप से रहता है। इन दोनों के सम्बन्ध का स्थान मस्तिष्क होता है। सूक्ष्म वृत्ति के द्वारा इन दोनों शरीरों का आपस में सम्बन्ध बना रहता है। इसलिए समाधि अवस्था में साधक को दिखाई देता है कि मैं अपने स्थूल शरीर के सिर के ऊपरी भाग से बाहर निकल आया। कभी-कभी ऐसा भी दिखाई देता है – वह अपने स्थूल शरीर से बाहर निकल आया है, और स्थूल शरीर की नाभि क्षेत्र से एक अति सूक्ष्म रूप से सफेद उज्ज्वल धागा-सा (तारतम्य) उससे (सूक्ष्म शरीर) जुड़ा हुआ है। नाभि का क्षेत्र सूक्ष्म रूप से जीवन चक्र से सम्बन्धित रहता है, इसीलिए ऐसा दिखाई देता है। ऐसा सिर्फ समाधि अवस्था में ही दिखाई देता है कि वह अपने स्थूल शरीर से निकलकर बाहर अंतरिक्ष में खड़ा हो गया तथा उसका स्थूल शरीर बैठा हुआ ध्यान कर रहा है। ऐसी अवस्था में साधक को स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के बीच कोई तारतम्य नहीं दिखाई देता है। दोनों शरीर आपस में पूर्णरूप से अलग-अलग दिखाई देते हैं। मगर सत्य यही है कि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का आपस में तारतम्य अवश्य रहता है, मगर वह तारतम्य साधक को दिखाई नहीं देता है। यह जो अति सूक्ष्म रूप से तारतम्य रहता है वह प्राण तत्त्व का ही स्वरूप होता है।

योग के अभ्यासी से अगर पूछा जाए कि चित्त पर स्थित मलिनता नष्ट करने का सबसे शीघ्र उपाय क्या है, तब वह यही कहेगा कि प्राणायाम के द्वारा ही चित्त की मलिनता अति शीघ्रता से स्वच्छ कर सकते हैं। जिस प्रकार से मलिन कपड़े को स्वच्छ करने के लिए साबुन का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार से चित्त पर स्थित मल को स्वच्छ करने के लिए प्राणायाम का कठोरता से अभ्यास करना चाहिये। चित्त की स्वच्छता होने पर मन अपने आप स्वच्छ होने लगता है। साधक को अपना जीवन श्रेष्ठ बनाने के लिए मन और चित्त को निर्मल (स्वच्छ) करना आवश्यक है। जिसने मन और चित्त को स्वच्छ कर लिया है, उसने अपने जीवन को श्रेष्ठ बना लिया है। मलिन मन और चित्त वाला मनुष्य कभी भी श्रेष्ठ नहीं बन सकता है। जिस मनुष्य का मन मलिन होता है उसकी सोच भी तुच्छ होती है। तुच्छ सोच वाले मनुष्य द्वारा किये गये कर्म भी अधर्म से युक्त होते हैं क्योंकि वह संसार में आसक्त हुआ किसी भी

प्रकार से अपनी इन्द्रियों को तृप्त करता रहता है। इन इन्द्रियों की तृप्ति के लिए सांसारिक पदार्थों को किसी भी प्रकार से प्राप्त करने में लगा रहता है। इसलिए कहा गया है– "प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है"।

प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह शारीरिक और मानसिक समता को स्थापित करे, जिससे सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर परम शान्ति की अवस्था को प्राप्त कर सके। योग की दृष्टि से देखें तो आसन शारीरिक क्रिया है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि मानसिक साधन हैं। प्राणायाम इन दोनों साधनों के बीच की कड़ी है, अर्थात् प्राणायाम शारीरिक साधन और मानसिक साधन दोनों है, क्योंकि इससे शरीर और मन दोनों का निग्रह होता है। इसीलिए प्राणायाम का महत्त्व बहुत अधिक होता है। अभ्यासियों ने प्राणायाम को इतना ज्यादा महत्त्व दिया है कि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए तथा शरीर में जितने भी प्रकार के रोग आदि हैं, उन्हें बाहर निकालने के लिए अथवा रोगों से मुक्त होने के लिए किसी अन्य प्रकार के उपचार की आवश्यकता ही नहीं है, सिर्फ प्राणायाम द्वारा ही सभी प्रकार के रोगों से मुक्त हुआ जा सकता है।

प्राणायाम के द्वारा अभ्यासी का शरीर ओजस्वी तो होता ही है इसके साथ ही मानसिक समता भी स्थापित करने में प्राणायाम सहायक होता है। मनुष्य के काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष, ईर्ष्या-घृणा, मद-शोक आदि मानसिक अशान्ति के बहुत बड़े कारण होते हैं। ये विकार चित्त में स्थित रहते हैं, मगर इनकी अनुभूति मन के स्तर से होती है। प्राणायाम के द्वारा हमारे मस्तिष्क की सूक्ष्म कोशिकाओं पर भारी प्रभाव पड़ता है। इस कारण इन सूक्ष्म कोशिकाओं में स्थित मल धीरे-धीरे नष्ट होकर कोशिकाएँ स्वच्छ होने लगती हैं। इससे कोशिकाओं का विकास क्रम शुरू होने लगता है, फिर इनमें ज्ञान पूर्वक व्यवहार होना शुरू होने लगता है। जिस प्रकार अग्नि को धुआँ ढक देता है, सूर्य को बादल ढक देता है, दर्पण की स्वच्छता को मैलापन ढक देता है, इसी प्रकार मस्तिष्क की सूक्ष्म कोशिकाओं में भरे ज्ञान के प्रकाश को उसमें भरी हुई मलिनता (काम-क्रोध, राग-द्वेष, ईर्ष्या-घृणा, आसक्ति आदि तमोगुण से सम्बन्धित विकार)

ढके रहती है। मानसिक समता में हलचल पैदा करने वाले कारणों को मल कहा जाता है, क्योंकि ये ज्ञान के प्रकाश को ढके रहते हैं। इन मलों को नष्ट करने के लिए और अपने स्वरूप में स्थित होने के लिए प्राणायाम का कठोर अभ्यास करना अति आवश्यक है।

प्राणायाम का अर्थ होता है – साँसों की सामान्य गति को कुछ समय के लिए रोककर अपनी इच्छानुसार चलाना। सामान्य स्थिति में साँसों की गति इस प्रकार से होती है – पहले श्वास का अन्दर जाना, फिर श्वास का रुकना, फिर बाहर निकलना, फिर रुकना, फिर अन्दर जाना, फिर रुकना, फिर बाहर निकलना। प्राणायाम के समय सामान्य क्रम टूट जाता है। श्वास (वायु को अन्दर लेना) और प्रश्वास (वायु को बाहर निकालना) दोनों ही गहरे और दीर्घ (लम्बे) होते है और श्वास का रुकना तो इतना अधिक देर तक होता है कि उसके सामने सामान्य स्थिति में श्वास जितनी समय तक रुकती है, वह तो नहीं के समान है।

साँस लेने की प्रक्रिया के इन तीन चरणों को क्रमशः पूरक, कुम्भक और रेचक कहा जाता है। प्राणायाम कई प्रकार के होते हैं, उन सब प्रकारों में पूरक, कुम्भक और रेचक भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं।

पूरक– श्वास को अन्दर लेने को पूरक कहते है। पूरक कभी भी मुँह से नहीं किया जाता है, सदैव नाक से करना चाहिये (शीतली और शीतकारी प्राणायाम में मुँह से साँस ली जाती है)। नाक से करते समय दोनों छिद्रों से करना चाहिये अथवा एक छिद्र से करना चाहिये। नाक के दाहिने छिद्र से करना है अथवा बाँये छिद्र से करना है, यह प्राणायाम के प्रकार पर निर्भर करता है।

कुम्भक– पूरक द्वारा अन्दर ली गयी श्वास को अन्दर रोके रखने को कुम्भक कहते हैं। पूरक के बाद किए गए कुम्भक को आन्तरिक कुम्भक कहते हैं।

रेचक– श्वास को नाक के द्वारा बाहर निकालने को रेचक कहते है। नाक के दोनों छिद्रों से श्वास को बाहर निकालना है अथवा एक छिद्र से बाहर निकालना है, यह प्राणायाम के प्रकार पर निर्भर करता है।

कुम्भक दो प्रकार के होते हैं – 1. आन्तरिक कुम्भक, 2. बाह्य कुम्भक। आन्तरिक कुम्भक के समय अन्दर ली गयी श्वास को रोकना होता है। बाह्य कुम्भक के समय रेचक के बाद (श्वास को बाहर निकालने के बाद) श्वास को बाहर ही रोकना होता है। कुछ क्षणों तक रोककर फिर पूरक करते हैं। पूरक, कुम्भक और रेचक के इन्हीं भेदों के कारण प्राणायाम के अनेक प्रकार होते हैं।

मैंने बहुत से मार्गदर्शकों को देखा है जो अपने शिष्यों को प्राणायाम के विषय में समझाते हैं कि पूरक, कुम्भक और रेचक कितनी देर तक करना चाहिये अर्थात् इसका भी अनुपात होना चाहिये। जितनी देर तक पूरक किया गया हो, उससे चौगुने समय तक कुम्भक लगाना चाहिये, पूरक से दो गुना समय रेचक में लगाना चाहिये। पूरक, कुम्भक और रेचक का अनुपात 1:4:2 होना चाहिये। इसी अनुपात को ध्यान में रखकर प्राणायाम का अभ्यास करते हैं। मैंने अपने साधना काल में प्राणायाम का अभ्यास करते समय इस प्रकार के अनुपात पर कभी भी ध्यान नहीं दिया है क्योंकि मैंने अत्यन्त कठोर प्राणायाम का अभ्यास किया है। कठोर अभ्यास करते समय यह अनुपात क्रमशः रख पाना सर्वथा असम्भव ही था क्योंकि मैं आन्तरिक कुम्भक और बाह्य कुम्भक को विशेष महत्त्व देता था, ताकि आन्तरिक कुम्भक ज्यादा समय तक लगाया जा सके। जब अभ्यास के समय आन्तरिक कुम्भक पर अधिक बल दिया जाएगा, तब प्राणायाम के अनुपात वाली समय सीमा अभ्यासी नहीं रख पायेगा। मैं आन्तरिक कुम्भक को इसलिए अधिक महत्त्व देता हूँ क्योंकि अभ्यासी का आन्तरिक कुम्भक जितना अधिक समय का होगा, चित्त पर स्थित मलिनता उतनी ही ज्यादा जलकर नष्ट होगी तथा उतना ही अधिक नाड़ी शोधन का कार्य होगा, जिससे अभ्यासी के चित्त और मन के अन्दर शुद्धता उतनी ही ज्यादा बढ़ेगी। कुम्भक जितनी अधिक अवधि वाला होगा, उतनी अवधि तक मन स्थिर रहेगा। मन की शुद्धता

के लिए आवश्यक है कि उसकी चंचलता पर नियंत्रण रख कर स्थिर किये रखा जाए। मन की चंचलता पर नियंत्रण रखने के लिए सरल उपाय है – कुम्भक का अभ्यास ज्यादा से ज्यादा किया जाए। इसलिए मैं अपने साधकों को आन्तरिक कुम्भक की अवधि अधिकाधिक बढ़ाने पर जोर देता हूँ।

प्राणायाम का प्रभाव शरीर में स्थित सूक्ष्म नाड़ियों पर पड़ता है। अब इस विषय में थोड़ा-सा समझ लें। मनुष्य का शरीर एक कारखाने की तरह व्यवस्थित ढंग से कार्य करता रहता है। इस शरीर में मस्तिष्क और मेरूदण्ड और इससे सम्बद्ध सूक्ष्म नाड़ियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। मस्तिष्क और मेरूदण्ड से निकलने वाली सूक्ष्म नाड़ियाँ इस शरीर रूपी कारखाने में स्फूर्ति पहुँचाने का कार्य करती हैं। इस शरीर रूपी कारखाने में प्रत्येक छोटी-बड़ी मशीन (अंग) और मशीन का एक-एक पुर्जा बिजलीघर (मस्तिष्क और मेरूदण्ड) से तारों द्वारा (सूक्ष्म नाड़ियों द्वारा) प्रवाहित बिजली (स्फूर्ति) से संचालित होता है अर्थात् मनुष्य शरीर के प्रत्येक अंग का संचालन मस्तिष्क और मेरूदण्ड से निकलने वाली सूक्ष्म नाड़ियों द्वारा पहुँचाई हुई स्फूर्ति से होता है। जैसे बिजलीघर में कोई खराबी हो जाए अथवा तारों में प्रवाहित होने वाली विद्युत प्रवाह में किसी प्रकार की रुकावट आ जाए, तब कारखाना चलना बन्द हो जाता है। इसी प्रकार मस्तिष्क व मेरूदण्ड में अथवा सूक्ष्म नाड़ियों में कोई विकार आ जाए, अथवा सूक्ष्म नाड़ियाँ इतनी निर्बल हो जाए कि वे स्फूर्ति ही न पहुँचा सकें, तब शरीर का वह अंग ढंग से कार्य नहीं कर पायेगा अथवा कार्य करना बन्द हो जाएगा। इस प्रकार शरीर की क्रियाओं का बन्द हो जाने का परिणाम क्या होगा, यह हम सभी को अच्छी तरह से मालूम है।

हमारी पाचन क्रिया, रक्त संचार, यहाँ तक कि श्वास-प्रश्वास भी उसी स्फूर्ति से संचालित एवं नियन्त्रित होता है, ये सब इन क्रियाओं से सम्बन्धित अंगों को मस्तिष्क एवं मेरूदण्ड से प्राप्त होती है। यदि नाड़ियों द्वारा संचालित स्फूर्ति का प्रवाहित होना बन्द हो जाए अथवा प्रवाहित होकर अपने निश्चित स्थान तक ही न पहुँचे तो उसके जीवन की क्रियाएँ होना बन्द होने लगेगी। यहाँ पर एक बात महत्त्वपूर्ण है – यदि बिजलीघर में बिजली पैदा होती रहे और तार उसे

निश्चित केन्द्रों को पहुँचाते रहे, परन्तु यदि बिजली के प्रवाह में उचित शक्ति नहीं है तब उस बिजलीघर से संचालित मशीनें नहीं चल सकेंगी। मशीन चलाने के लिए बिजली में ताकत (प्रवाह) पूरी होनी चाहिये। अब सभी अभ्यासीगण समझ गये होंगे।

मनुष्य के शरीर में स्थित ग्रन्थियों से विशेष प्रकार के द्रव पदार्थ का स्राव होता रहता है, यह स्राव व्यवस्थापूर्वक सदैव लगातार होते रहना चाहिये। ये ग्रन्थियाँ जो द्रव पदार्थ का स्राव करती है अगर यह द्रव पदार्थ उचित मात्रा में न प्राप्त हो पाया तो सूक्ष्म नाड़ियों की अच्छी हालत होने पर भी, इन नाड़ियों की स्फूर्ति और आगे चलकर स्वयं नाड़ियाँ कमजोर हो जाएँगी। इससे शरीर के अन्दर की क्रियाएँ और प्राणों का व्यापार धीमा व कमजोर पड़ जाएगा। इन ग्रन्थियों में किसी प्रकार की गड़बड़ी आने पर शरीर में विभिन्न प्रकार के रोग लग जाते हैं, अर्थात् मनुष्य शरीर में इन ग्रन्थियों का भी उतना ही महत्त्व है जितना सूक्ष्म नाड़ियों का है, जिनका वर्णन मैंने अभी-अभी किया है।

मनुष्य के शरीर में ये दोनों प्रकार के अंग समूह (सूक्ष्म नाड़ियों का जाल और ग्रन्थियाँ) अत्यन्त उपयोगी हैं। इसके लिए आवश्यक है कि इन्हें पर्याप्त मात्रा में शुद्ध रक्त की प्राप्ति होती रहे। यह कार्य रक्त वाहक अंग समूह पर आश्रित होता है। रक्त वाहक अंग हृदय, धमनियाँ और शिराएँ हैं। **धमनियाँ** रक्त ले जाने का कार्य करती है, **शिराएँ** रक्त को वापस लाने का कार्य करती है तथा धमनियाँ और शिराओं को जोड़ने वाली सूक्ष्म नाड़ियाँ आदि रक्त पहुँचाने और वापस लाने का कार्य करती हैं। अगर ग्रन्थियों और सूक्ष्म नाड़ी जाल में उचित मात्रा में रक्त प्रवाह नहीं हो पाता, तब इनका व्यापार शिथिल पड़ने लगता है।

शरीर के रक्त वाहक अंगों में जो रक्त प्रवाह हो रहा है, वह शुद्ध और उत्तम होना आवश्यक है। अगर रक्त शुद्ध और उत्तम नहीं हो और उसमें विषैले तत्त्व मिले हुए हों, तब शरीर में विभिन्न प्रकार के विकार अथवा रोग उत्पन्न होने लगते हैं। इसलिए शरीर में स्थित रक्त शुद्ध और उत्तम होना चाहिये। इसके लिए शरीर श्वास से सम्बन्धित अंगों और भोजन से सम्बन्धित अंगों के आश्रित होता है।

उत्तम रक्त उसे कहते हैं जिसमें ऑक्सीजन नामक प्राणवर्धक तत्त्व पर्याप्त मात्रा में हो और जिसमें अंगों को पुष्ट करने वाले तत्त्व पर्याप्त मात्रा में हो। ऑक्सीजन हमें उस वायु से मिलती है जिसे श्वास के द्वारा हम अन्दर ले जाते हैं। पुष्टिकारक तत्त्व हमें अन्न और जल से मिलते हैं जिसे हम आहार के रूप में ग्रहण करते हैं। श्वास-सम्बन्धी अंग जितने स्वस्थ होंगे उतना ही ज्यादा ऑक्सीजन हमारा रक्त ग्रहण कर सकेगा। श्वास की क्रिया दोषयुक्त होने से रक्त ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँचा सकेगा, इससे रक्त से पुष्ट होने वाले अंग निर्बल और क्षीण होते जाएँगे। इसी प्रकार हम चाहे जितना स्वादिष्ट और पुष्टिकारक भोजन ग्रहण करें, यदि हमारा पाचन अंग समूह सही ढंग से कार्य नहीं कर रहा है तो सही ढंग से भोजन का पाचन नहीं हो सकेगा। इसके फलस्वरूप पचे हुए भोजन से रस की मात्रा कम प्राप्त होगी, जिससे रक्त को पुष्टिकारक तत्त्व बहुत ही कम मात्रा में मिल पाएँगे, तब शरीर पुष्ट नहीं हो सकेगा। भोजन का बहुत-सा अंश व्यर्थ चला जाएगा। अतः यह आवश्यक है कि शरीर को शुद्ध और उत्तम रक्त मिलता रहे। इसके लिए श्वास-सम्बन्धी और भोजन-सम्बन्धी अंग सही ढंग से कार्य करते रहें।

जब हमारे श्वास-सम्बन्धी अंग-समूह और आमाशय ठीक ढंग से कार्य नहीं करेंगे, तब ऑक्सीजन और पुष्ट करने वाले तत्त्व के न मिलने से अनावश्यक तत्त्व रक्त में मिल जाएँगे, शरीर में कार्बन डाइऑक्साइड नामक गैस निरन्तर बनती रहेगी। जिसका रक्त संचार अच्छी तरह से हो रहा है, उसकी रक्तवाहिनी नाड़ियाँ इस अनावश्यक गैस को फेफड़ों में ले जाती है जहां वह प्रश्वास द्वारा बाहर निकल जाती है। अगर किसी का रक्त संचार उचित ढंग से नहीं हो रहा है, तब रक्त में मिले हुए अनावश्यक तत्त्व भिन्न-भिन्न अंगों में जमा होकर शरीर को हानि पहुँचायेंगे। इस प्रकार भोजन में जिन पदार्थों को खाते हैं, उन पदार्थों के हजम हो जाने पर बहुत-सा अनावश्यक तत्त्व बच जाता है, वह मल के द्वारा बाहर निकल जाता है। अगर भोजन का सही ढंग से पाचन नहीं हुआ, तब आँतों द्वारा सोखे जाने वाला उपयोगी रस कम बनता है। जितना रस कम बनेगा, उतनी ही अधिक मात्रा में शेष अंश अर्थात् ज्यादा मात्रा में मल के द्वारा बाहर निकल जाता है। इस मल में आवश्यक रस की मात्रा भी मिली होती है। इससे पौष्टिक भोजन का समुचित लाभ नहीं मिल पाता है।

आँतें जब उचित ढंग से कार्य नहीं कर पाती हैं, तब भोजन को ठीक ढंग से नहीं पचा पाती हैं। तब मल बड़ी आँत में अथवा छोटी आँत में कई दिनों तक ठहरा रहता है। इससे हानिकारक गैस उत्पन्न होने लगती हैं। यह हानिकारक गैस अन्दर ही अन्दर रक्त प्रवाह को दूषित करने लगती है। शरीर के अन्दर विद्यमान गुर्दे (kidneys) भी महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। ये शरीर के अन्दर विद्यमान कुछ हानिकारक व अनुपयोगी तत्त्व मूत्र के साथ बाहर निकाल देते हैं। यदि गुर्दे सही ढंग से कार्य नहीं कर पा रहे हों, तब शरीर को हानि पहुँचाने वाले तत्त्व अन्दर ही रह जाते हैं। ऐसे हानिकारक तत्त्व विशेषकर शरीर में हड्डियों के सन्धि स्थलों पर आश्रय पा जाते हैं। जिन लोगों को गठिया वात की शिकायत है, उनके गुर्दों में अवश्य कुछ खराबी आयी होगी। इन सब बातों को समझाने का हमारा तात्पर्य यह है कि रक्त का अच्छा होना व उसका प्रवाह उचित ढंग से होना फेफड़ों और आमाशय की निर्दोषता पर निर्भर करता है। यह सब मैंने मुख्य रूप से शरीर की कार्य प्रणाली के विषय में बताया है।

फेफड़े सीने के अन्दर व आँतें और गुर्दे पेट के अन्दर विद्यमान हैं। सामान्य अवस्था में श्वास लेते समय पेट की माँसपेशियाँ क्रमशः ऊपर और नीचे होती रहती हैं। इस क्रिया से आँतों और गुर्दों में निरन्तर हलचल होती रहती है। इस हलचल से इन दोनों को लाभ प्राप्त होता रहता है अर्थात् इन्हें अपना व्यापार करने में सहायता मिलती है। प्राणायाम का अभ्यास करते समय जब पूरक, कुम्भक और रेचक करते हैं, तब इनमें और भी ज्यादा हलचल होने लगती है। यदि कहीं पहले से किसी जगह पर रक्त जमा हो गया है तब ऐसी अवस्था में उस स्थान पर बार-बार जोर पड़ने से जमा हुआ रक्त अपनी जगह से हट जाता है। इसके साथ-साथ आँतों और गुर्दों के व्यापार को नियंत्रण में रखने वाली सूक्ष्म नाड़ियाँ और माँसपेशियाँ मजबूत हो जाती हैं। ये सूक्ष्म नाड़ियाँ और माँसपेशियाँ यदि एक बार मजबूत हो गयी, तब तक बहुत समय तक मजबूत बनी रहती हैं। प्राणायाम के अभ्यास से अधिक स्वस्थ हो जाने पर आँतें और गुर्दे अपना कार्य और भी अच्छे ढंग से करने लगते हैं।

फेफड़ों के विषय में भी यही बात है। श्वास की क्रिया उचित ढंग से चलती रहे, इसके लिए आवश्यक है कि फेफड़े लोचदार हो और श्वास से सम्बंधित माँसपेशियाँ सुदृढ़ हो। फेफड़े को अधिक से अधिक फैलाने से आँतों और गुर्दों को अच्छी तरह से कार्य करने के लिए बल मिलता है तथा कार्बन डाइऑक्साइड नामक दूषित गैस को पूर्ण रूप से बाहर निकालने में सहायता मिलती है। आँतें, गुर्दे और फेफड़े ये तीनों शरीर से मल को बाहर निकालने का कार्य करते हैं, इन तीनों अंगों का अच्छी तरह से व्यायाम हो जाता है।

भोजन के समावेश में आमाशय, अग्नाशय (Pancreas) नामक ग्रन्थि और यकृत (Lever) मुख्य रूप से कार्य करते हैं। प्राणायाम से इन सभी को बल मिलता है, क्योंकि प्राणायाम करते समय सीने (वक्षस्थल) के क्षेत्र की माँसपेशियाँ और पेट के क्षेत्र की माँसपेशियाँ क्रमशः खूब सिकुड़ती और ढीली पड़ती हैं। इससे इन महत्त्वपूर्ण अंगों के अन्दर मजबूती और कार्य करने की क्षमता में बढ़ोत्तरी होती है। जिन मनुष्यों के शरीर में जठराग्नि धीमी पड़ जाती है और वायु विकार (कफ, पित्त, वात) की शिकायत रहती है उनके लीवर में चर्बी जमा हो जाती है अथवा रक्त जमा हो जाता है। इन सभी शिकायतों को दूर करने के लिए प्राणायाम एक उत्तम साधन है, क्योंकि इससे ये दोष दूर हो जाते हैं तथा स्फूर्ति मिलती है। जो मनुष्य अपने जीवन में प्राणायाम को अपना लेता है उसे इस प्रकार के रोग आदि प्रभावित नहीं कर सकते हैं।

शरीर स्वस्थ रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि उसकी धमनियों में प्रभावित होने वाले रक्त को ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती रहे। प्राणायाम द्वारा रक्त को जितना अधिक ऑक्सीजन मिल सकती है उतना अन्य किसी प्रकार के व्यायाम आदि से प्राप्त नहीं हो सकती है। प्राणायाम करते समय अभ्यासी अपने अन्दर बहुत ज्यादा मात्रा में ऑक्सीजन को सोख लेता है अथवा पचा लेता है तथा सीने (वक्षस्थल) और सम्बन्धी अंगों का व्यायाम भी हो जाता है। इससे अभ्यासी का शरीर आलस्य से रहित हुआ फुर्तीला बना रहता है।

जिन मनुष्यों ने प्राणायाम का अभ्यास नहीं किया है, उनके फेफड़े सिर्फ आधे भाग से श्वास-प्रश्वास का कार्य करते रहते है। फेफड़े का अन्य भाग निष्क्रिय-सा बना रहता है। फेफड़ों के

शेष निष्क्रिय भाग में वायु की गति सही ढंग से नहीं हो पाती है। इससे फेफड़ों के उस क्षेत्र में कभी-कभी रोग भी उत्पन्न होने लगते हैं तथा उस क्षेत्र के छिद्र बन्द से होने लगते हैं। प्राणायाम के द्वारा फेफड़ों के सम्पूर्ण क्षेत्र से कार्य लिया जाने लगे, तो फेफड़ों के प्रत्येक छिद्र प्रतिदिन प्राणायाम के समय वायु से धुलने लगते हैं। इससे फेफड़ों में किसी प्रकार के कीटाणुओं का आक्रमण नहीं हो सकता है।

हमारे भारत वर्ष के योगियों ने शोध करके प्राणायाम के रूप में ऐसा शस्त्र पकड़ा दिया है जिसके द्वारा हम सभी श्वास सम्बन्धी रोगों को सफलतापूर्वक दबा सकते हैं अथवा मूल सहित उखाड़कर फेंक सकते हैं। मगर बड़े दु:ख की बात है कि इस अमूल्य शस्त्र को प्रयोग में नहीं ले रहे हैं। श्वास सम्बन्धी रोग के शिकार होकर हजारों और लाखों की संख्या में मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होते जा रहे हैं। बड़े-बड़े शहरों में प्रदूषण के कारण बहुत से लोगों को रोग लगते जा रहे हैं। चिकित्सक के पास कतार लगाकर इन रोगों के निवारण के लिए इन्तजार करते रहते हैं, अपनी गाढ़ी कमाई का बहुत बड़ा अंश चिकित्सा में खर्च कर देते हैं, जिससे परिवार के पालन-पोषण की उचित व्यवस्था में व्यवधान आ जाता है, मगर बिल्कुल नि:शुल्क प्राणायाम के अभ्यास को नहीं अपना सकते हैं। रोगयुक्त होकर चारपाई पर लेटे हुए शारीरिक पीड़ा के कारण कराहते रहेंगे, अपने घर के सदस्यों को परेशान करते रहेंगे, धन के अभाव में कर्ज लेना स्वीकार है, मगर प्राणायाम को अपने जीवन में अपनाना पसन्द नहीं है। खाली समय में ताश खेलकर और व्यर्थ की बातें करके समय व्यतीत करना पसन्द करेंगे, अपने शारीरिक रोगों को दु:खी होकर दूसरों को बताते रहेंगे, उपचार के लिए चिकित्सकों की जानकारी लेने लगेंगे, मगर प्राणायाम करने के लिए समय नहीं है। जिस व्यक्ति ने युवावस्था से ही प्राणायाम का अभ्यास संयमित होकर किया है, उसका जीवन निरोगी ही रहेगा। पूर्वकाल में ऋषि, मुनि, तपस्वी इसी प्राणायाम को अपना के निरोगी जीवन जीते थे।

सच तो यह है अपने देश के विद्यालयों में शिक्षा के रूप में प्राणायाम के विषय को पढ़ाया जाए, तथा इसकी बारीकियों को समझाया जाए, तो मनुष्य अपना जीवन रोगरहित

होकर व्यतीत करेगा। इससे सबसे बड़ा लाभ यह हो सकता है कि हमारे देश के स्वास्थ्य मंत्रालय का बजट बहुत ही कम हो जाएगा तथा देशवासी भी निरोगी होकर रहेंगे। बहुत से ऐसे रोग हैं जिनके निवारण के लिए औषधि की खोज अभी तक नहीं हो पायी है। ऐसे रोग प्राणायाम के द्वारा शरीर के पास नहीं आएँगे। इसके लिए अति आवश्यक है कि आरम्भिक शिक्षा से ही प्राणायाम के विषय में जानकारी प्रदान कराई जाए, ताकि छोटे-छोटे बच्चों में प्राणायाम के विषय में जागरुकता आएगी।

भस्त्रिका प्राणायाम मनुष्य के शरीर के प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म अंगों को, धमनियों और शिराओं को हिलाकर रख देता है और इन अंगों को अच्छी तरह से कार्य करने के योग्य बना देता है। सूक्ष्म नाड़ियों और ग्रन्थियों में रक्त उचित मात्रा में प्राप्त होने पर ही ये स्वस्थ रहती हैं। इस भस्त्रिका प्राणायाम से रक्त प्रवाह की गति बहुत तेज हो जाती है तथा रक्त शुद्ध भी बहुत ही शीघ्रता से होने लगता है। इस प्राणायाम से ग्रन्थि समूह को अच्छा रक्त पहले की अपेक्षा प्रचुर मात्रा में मिलने लगता है, इससे ये ग्रन्थियाँ अधिक स्वस्थ होने लगती हैं। इसके अभ्यास से मस्तिष्क, मेरूदण्ड और इनसे सम्बन्धित नाड़ियों को स्वस्थ बना सकते हैं।

मनुष्य का मस्तिष्क इस शारीरिक शक्ति का मुख्य मूल स्रोत है, इसके बाद शक्ति का स्रोत मेरूदण्ड एवं इससे सम्बन्धित सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं। समस्त सूक्ष्म नाड़ियाँ, चाहे मेरूदण्ड की हों या मस्तिष्क की, ये सभी शक्तिवाहक मात्र हैं, अर्थात् मस्तिष्क और मेरूदण्ड में उत्पन्न हुई शक्ति इन नाड़ियों द्वारा बहती रहती है। प्राणायाम का सीधा प्रभाव मस्तिष्क और मेरूदण्ड पर पड़ता है। गहरी श्वास लेने पर मस्तिष्क में स्थित दूषित रक्त शिराओं द्वारा बाहर आ जाता है, और हृदय से शुद्ध रक्त धमनियों द्वारा मस्तिष्क के अन्दर चला जाता है। इसीलिए प्राणायाम के समय गहरी और दीर्घ साँस लेने और छोड़ने पर ध्यान दिया जाता है। इसी प्रकार उड्डियान बन्ध लगाने से शरीर को बहुत अधिक मात्रा में शुद्ध रक्त मिलने लगता है। प्राणायाम के अभ्यास से तुरन्त बल और स्फूर्ति प्राप्त होने लगती है। मेरूदण्ड और सूक्ष्म नाड़ियों के

आसपास का रक्त प्रवाह सामान्यतः धीमा होता है। प्राणायाम करने से इन अंगों में रक्त प्रवाह की गति बढ़ जाती है।

तीनों बन्ध एक साथ लगाने से पीठ वाले भाग, रीढ़ (मेरूदण्ड) से सम्बन्धित सूक्ष्म नाड़ियों तथा माँसपेशियों में क्रमशः सिकुड़न एवं फैलाव होने लगता है। इससे यहाँ से सम्बन्धित सूक्ष्म नाड़ियों तथा माँसपेशियों में रक्त प्रवाह की गति बढ़ जाती है। तीनों बन्ध अगर न लगाये जाएँ तो प्राणायाम के समय इस क्षेत्र में रक्त प्रवाह इतनी तेज गति से नहीं होता है, जितना तीनों बन्ध एक साथ लगाने से होता है। इसलिए सूक्ष्म नाड़ियों में रक्त का प्रवाह तीव्र करने के लिए तीनों बन्ध लगाना श्रेष्ठ है।

आदिकाल से योगी और तपस्वी शरीर के अन्दर की क्रिया को सही रखने के लिए प्राणायाम को ही एक मात्र साधन मानते थे। बहुत से तो शरीर को स्वस्थ रखने के लिए प्राणायाम को इतना सहायक मानते थे कि वे इसके लिए अन्य किसी साधन की आवश्यकता ही नहीं समझते थे। मैं प्राणायाम के विषय में अपने अनुभवों से कह रहा हूँ – इसके अभ्यास से शरीर की आन्तरिक क्रियाओं का नियन्त्रण ही नहीं, बल्कि इस शरीर को जीवन देने वाले प्रत्येक व्यापार पर अपना अधिकार होने लगता है।

कई लोगों की सोच होती है – ईश्वर ने हमें जीवन जीने के लिए निश्चित साँसें दी है, तो मैं क्यों न पूरी साँसें लूँ अर्थात् मैं क्यों अपनी साँसों को रोकूँ? ऐसे अज्ञानी मनुष्यों को प्राणायाम के महत्त्व का ज्ञान नहीं होता है। वे अज्ञानतापूर्ण बातें करते रहते हैं तथा दूसरों को भी भ्रमित करते रहते है। ऐसी गलत राय देने वालों से समाज वालों को बचना चाहिये क्योंकि ऐसे मनुष्यों से समाज का कभी भला नहीं हो सकता है। ऐसे मनुष्यों को मालूम नहीं होता है कि प्राणायाम करने से क्षय (टी०बी०) और दमा (अस्थमा) जैसे भयानक रोग नहीं होते हैं। अगर किसी मनुष्य पर ऐसे रोगों का प्रभाव पड़ने लगता है, तो कठोर प्राणायाम के द्वारा इन रोगों के मूल से उखाड़कर फेंका जा सकता है।

मनुष्य के शरीर में जन्म से लेकर मृत्यु के अन्तिम क्षण तक निरन्तर श्वास-प्रश्वास की क्रिया होती रहती है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया नाक के दोनों छिद्रों से एक ही समय में एक साथ समान रूप से नहीं होती है। अर्थात् नाक के दोनों छिद्रों से समान रूप से साँसें अन्दर नहीं जाती हैं और न ही समान रूप से बाहर निकलती हैं। नाक के एक छिद्र से दूसरे की अपेक्षा श्वास का कम या ज्यादा आवागमन होता रहता है। जब नाक के दाहिने छिद्र से श्वास लेते हैं, तब सूर्यनाड़ी से श्वास लेना कहा जाता है। जब नाक के बाँये छिद्र से श्वास लेते हैं, तब चन्द्रनाड़ी से श्वास लेना कहा जाता है। सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी जब समान रूप से चलने लगती हैं, तब उसे सुषुम्ना का चलना कहते है। नाक के एक छिद्र को बन्द करने पर, दूसरे छिद्र द्वारा श्वास निकालने पर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि एक छिद्र से श्वास का प्रवाह सरलतापूर्वक चल रहा है और दूसरे छिद्र से श्वास का प्रवाह सरलतापूर्वक नहीं चल रहा है, ऐसा लगता है इस छिद्र से श्वास कम निकल रहा है।

नाक के दोनों छिद्रों से श्वास का विषमतापूर्वक चलना प्रत्येक सामान्य मनुष्य का स्वभाव होता है। सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी का विषमतापूर्वक चलने से शरीर पर विषमता का प्रभाव पड़ता है। जिस नाड़ी से श्वास ज्यादा आता-जाता है तब कहा जाता है यह नाड़ी ज्यादा चल रही है और दूसरी नाड़ी कम चल रही है। जो नाड़ी ज्यादा चल रही होती है उसका प्रभाव शरीर पर ज्यादा पड़ता है। कम चलने वाली दूसरी नाड़ी का प्रभाव शरीर पर कम पड़ता है। सूर्यनाड़ी का स्वभाव गर्म होता है तथा चन्द्रनाड़ी का स्वभाव ठण्डा होता है। यदि सूर्यनाड़ी अधिक चल रही है, तब इसका स्वभाव गर्म होने के कारण शरीर में सूक्ष्म रूप से गर्मी का प्रभाव रहता है अर्थात् गर्म रहता है। जब चन्द्रनाड़ी अधिक चलती है तब इसका प्रभाव शरीर पर सूक्ष्म रूप से ठण्डा रहता है। इसी प्रकार शरीर को बहुत दिनों तक एक जैसा बनाए रखने पर उसी से सम्बंधित रोग प्रकट हो जाते है अथवा रोग दब जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं।

जब किसी मनुष्य की सूर्यनाड़ी अधिक चलती है तब वह ज्यादातर रोगमुक्त रहता है, क्योंकि उस पर गर्मी का प्रभाव रहता है। इसका प्रभाव पाचन क्रिया पर भी पड़ता है। पाचन

क्रिया सुचारु रूप से चलती है क्योंकि पेट में स्थित जठराग्नि को और अधिक प्रज्जवलित होने में सहायता मिलती है। मैं व्यक्तिगत तौर पर यही कहूँगा कि साधकों को अपनी सूर्यनाड़ी अधिकाधिक चलाने का प्रयास करते रहना चाहिये, इससे साधक को योगाभ्यास में सहायता मिलती है। समाज में कई लोग शुभ कार्यों की शुरूआत करते समय नाड़ियों के विषय में जानकारी लेते हैं; यदि सूर्यनाड़ी ज्यादा चल रही है तब उसे शुभ मानते हैं। यात्रा करने से पहले कुछ मनुष्य अपनी नाड़ियों के विषय में ज्ञान करके ही यात्रा पर निकलते हैं। ऐसा पहले ज्यादातर मनुष्य करते थे। मगर अब वर्तमान में आधुनिक जीवन में इन बातों पर ध्यान नहीं दिया जाता है। यात्रा की शुरूआत करते समय सूर्यनाड़ी का ज्यादा चलना शुभ माना जाता है। बहुत से मनुष्य ऐसे कार्यों के समय सूर्यनाड़ी अधिक चलने का इन्तजार भी करते थे अथवा सूर्यनाड़ी अधिक चलने लगे, इसका विभिन्न प्रकार से उपाय भी करते थे। सर्दियों के समय सूर्यनाड़ी को अधिक चलने का प्रयास करना चाहिये, इससे शरीर के अन्दर गर्मी अधिक हो जाने पर सर्दी की अनुभूति कम होने लगती है। निम्न रक्तचाप (Low Blood Pressure) के समय सूर्यनाड़ी का अधिक चलना अच्छा होता है।

जब मनुष्य की चन्द्रनाड़ी अधिक चलने लगती है तब उसके शरीर में विकार उत्पन्न होने का भय बना रहता है। ये विकार कफ, पित्त और वात रूपी होते हैं। अगर किसी के शरीर में विकार उत्पन्न हो गये हों, तब उसे ऐसा प्रयास करना चाहिये जिससे उनकी चन्द्रनाड़ी कम चले और सूर्यनाड़ी अधिक चले। चन्द्रनाड़ी अधिक चलने से पाचन क्रिया को सहयोग नहीं मिल पाता है, इससे जठराग्नि कमजोर पड़ सकती है। जब गर्मी अधिक पड़ रही हो, उस समय चन्द्रनाड़ी को अधिक चलाने का प्रयास करना चाहिये, इससे शरीर के अन्दर ठण्डक का प्रभाव बढ़ता है। उच्च रक्तचाप (High Blood Pressure) वाले मनुष्य को ज्यादा से ज्यादा चन्द्रनाड़ी चलाना लाभदायक होगा, इससे रक्तचाप थोड़ा कम होने में सहायता मिलेगी। जिस साधक की कुण्डलिनी उग्र हो तथा कुण्डलिनी के कारण शरीर में ज्यादा गर्मी महसूस हो रही हो, तब चन्द्रनाड़ी ज्यादा चलाने के प्रयास से आराम मिलेगा।

अभी चन्द्रनाड़ी और सूर्यनाड़ी के चलाने के विषय में संक्षेप में बताया। अब सुषुम्ना नाड़ी के चलाने के विषय में बताता हूँ – सुषुम्ना नाड़ी इन दोनों नाड़ियों के समान नहीं चलती है, वह अधिकतर बन्द सी रहती है। सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी प्राणियों के शरीर में शक्ति वाहिनी के रूप में कार्य करती है। सम्पूर्ण शरीर को शक्ति प्रदान करने का मुख्य रूप से यही दोनों नाड़ियाँ कार्य करती है, इसलिए स्वस्थ रहने के लिए आवश्यक है कि ये नाड़ियाँ ज्यादा से ज्यादा शुद्ध रहें और सम चलने का प्रयास करें। इन शक्तिवाहिनी नाड़ियों में जितनी ज्यादा शुद्धता रहेगी, उतना ही ज्यादा शुद्ध ऑक्सीजन सम्पूर्ण शरीर में पहुँचने लगेगा। अगर सम्पूर्ण शरीर के अंगों को शुद्ध ऑक्सीजन प्रचुर मात्रा में मिलती रहेगी, तब सभी अंगों में उचित मात्रा में शुद्ध रक्त भी पहुँचता रहेगा, इससे अंग मजबूत व रोग से रहित होकर अपने कार्य सही ढंग से करते रहेंगे। तब यह शरीर स्वस्थ व ऊर्जावान बना रहेगा।

जब तक सूर्यनाड़ी व चन्द्रनाड़ी में बहने वाला प्राण तत्त्व पूर्ण रूप से शुद्धता को प्राप्त नहीं होगा, तब तक ये दोनों नाड़ियाँ विषम रूप से चलती रहेंगी। जब सम्पूर्ण नाड़ी समुदाय के अन्दर बहने वाली प्राणवायु पूर्ण रूप से शुद्धता को प्राप्त हो जाएगी, तब सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी अपनी विषम गति को छोड़कर समगति से चलने का प्रयास करने लगेंगी। जितने समय तक सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी समगति से चलेंगी, उतने समय तक सुषुम्ना नाड़ी पर प्रभाव पड़ने लगेगा। ऐसी अवस्था में सुषुम्ना नाड़ी चलने का प्रयास करने लगती है अथवा चलने लगेगी। इस प्रकार से सुषुम्ना नाड़ी का जितने समय तक चलना होता है, यह समय मनुष्य के जीवन में बहुत महत्त्व रखता है। सुषुम्ना के अन्दर प्राण प्रवेश होकर गति करने पर, वह मनुष्य अन्तर्मुखी हो जाएगा, ऐसी अवस्था में वह संसार में व्यवहार नहीं कर पायेगा। ऐसा समझो वह मूर्ति के समान स्थिर हुआ शान्त बैठा रहेगा। यह अवस्था संसारी मनुष्यों की नहीं होती है बल्कि साधकों की होती है। सुषुम्ना के अन्दर प्राण के प्रवेश कर गति करते ही साधक के मूलाधार चक्र पर स्थित कुण्डलिनी-शक्ति पर प्राणों के धक्के लगने शुरू हो जाएँगे। इसकी अनुभूति अभ्यासी को होने लगती है, इस अवस्था में बहुत दिन रहने पर कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होकर ऊर्ध्व होने लगती है।

सामान्य अवस्था में संसारी मनुष्यों की सुषुम्ना नाड़ी बन्द रहती है। जब सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी आपस में गति बदलती हैं, तब यह गति सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा ही बदलती है और क्षणिक देर के लिए सुषुम्ना नाड़ी पर प्राणों का प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव इतनी कम अवधि के लिए होता है कि ऐसा समझो प्राण का झटका-सा लगता है, तभी दोनों नाड़ियों की गति में बदलाव आ जाता है। इसको स्वर बदलना भी कहते है क्योंकि इसकी अनुभूति नाक के दोनों छिद्रों से होती है। इसलिए पूछा जाता है कि नाक का कौन सा स्वर कम चल रहा है और कौन सा स्वर ज्यादा चल रहा है। नाक के दाहिने छिद्र का सूर्यनाड़ी से सम्बन्ध होता है तथा नाक के बाँये छिद्र का सम्बन्ध चन्द्रनाड़ी से होता है। सूर्यनाड़ी चलने के लिए कहा जाता है दाहिना स्वर चल रहा है तथा चन्द्रनाड़ी चलने के लिए कहा जाता है बाँया स्वर चल रहा है।

मनुष्य के शरीर में सबसे महत्त्वपूर्ण तीन नाड़ियाँ होती हैं – (1) सुषुम्ना नाड़ी (2) सूर्यनाड़ी, और (3) चन्द्रनाड़ी। इन तीनों नाड़ियों में सुषुम्ना नाड़ी मुख्य होती है, यह नाड़ी संसारी मनुष्यों के शरीर में बन्द रहती है। इस नाड़ी का निचला सिरा मूलाधार चक्र के पास स्थित होता है तथा ऊपरी सिरा सिर के ऊपरी भाग अर्थात् सहस्त्रार चक्र पर स्थित होता है। शरीर के मुख्य सातों चक्र इसी सुषुम्ना नाड़ी से सम्बद्ध रहते हैं। यह नाड़ी रीढ़ के निचले भाग मूलाधार चक्र से रीढ़ के सहारे सिर के ऊपरी भाग सहस्त्रार चक्र तक विद्यमान रहती है। इसके दाहिनी ओर सूर्यनाड़ी और बायीं ओर चन्द्रनाड़ी स्थित रहती है। सूर्यनाड़ी को धनात्मक आवेश (पॉज़िटिव चार्ज) भी कहते हैं व चन्द्रनाड़ी को ऋणात्मक आवेश (नेगेटिव चार्ज) भी कहते हैं। मध्य में स्थित सुषुम्ना नाड़ी न तो धनात्मक आवेश है और न ही ऋणात्मक आवेश है, यह तटस्थ (न्यूट्रल) है। इसलिए यह नाड़ी सबसे महत्त्वपूर्ण है। सुषुम्ना नाड़ी सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी को अपने अधिकार में लिए रहती है।

सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी की विषम गति और समगति का प्रभाव सुषुम्ना नाड़ी पर पड़ता है। इसी प्रकार सुषुम्ना नाड़ी का प्रभाव सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी पर पड़ता है। शरीर के सभी मुख्य चक्र सुषुम्ना नाड़ी से सम्बद्ध रहते है। सुषुम्ना नाड़ी और सभी चक्र आपस में सम्बद्ध रहने के कारण चक्रों का विकास क्रम सुषुम्ना को प्रभावित करता है। कुण्डलिनी-शक्ति ऊर्ध्व होते

समय इसी सुषुम्ना नाड़ी के सहारे ऊपर की ओर चढ़ती है। कभी-कभी कुण्डलिनी-शक्ति इस सुषुम्ना नाड़ी से भिन्न मार्ग अपनाकर भी चलती है। संसारी मनुष्यों की सूर्यनाड़ी और चन्द्रनाड़ी सदैव विषम गति से चलती रहती है। जो अभ्यासी बहुत ज्यादा प्राणायाम करते है उनके शरीर के अन्दर ये दोनों नाड़ियाँ बहुत ज्यादा विषमता को लिए हुए नहीं रहती हैं। मगर जो साधक समाधि का अभ्यास बहुत समय से कर रहे हैं, उनके दोनों स्वर समाधि अवस्था में तो सम चलते ही हैं, तथा व्यवहार की दशा में भी इन दोनों स्वरों में (दोनों नाड़ियों में) ज्यादा विषमता नहीं रहती है।

जब दोनों स्वर (दोनों नाड़ियाँ) विषम गति से चलते हैं, उस समय उसकी प्रवृत्ति संसार की ओर उन्मुख रहती है। उस समय व्यक्ति आसक्तिवश सांसारिक पदार्थों का भोग करने तथा इन पदार्थों को प्राप्त करने का प्रयास करता रहता है। इस अवस्था में मन सदैव चंचल बना रहता है। प्राणायाम के अभ्यास से जब दोनों स्वरों में विषमावस्था बहुत कम रह जाती है, तब उस अभ्यासी की प्रवृत्ति कुछ समय के लिए संसार की ओर से हटकर अध्यात्म के प्रति होने लगती है। कुछ समय के लिए मन की गति भोग्य पदार्थों की ओर न जाकर अपने आप में ठहरने लगती है। जो साधक समाधि का अभ्यास कर रहे हैं, उन साधकों के स्वर समाधि अवस्था में बहुत ही कम श्वास लेते हुए समान (सम) चलते रहते है अर्थात् समाधि अवस्था में स्वरों की गति सम हो जाती है। उस समय उनकी सुषुम्ना नाड़ी में प्राण गति कर रहा होता है। यह अवस्था बहुत समय के अभ्यास के बाद आती है, इसलिए सुषुम्ना नाड़ी को देवपथ भी कहा गया है। जब तक चित्त की वृत्तियों का प्रवाह सृष्टि उन्मुख (सांसारिकता की ओर) रहेगा, तब तक दोनों स्वरों की गति विषमावस्था में बनी रहेगी। जब तक वृत्तियों का प्रभाव किसी एक ध्येय वस्तु पर रहेगा, तब तक स्वर सम अवस्था में चलने का प्रयास अपने आप करने लगेंगे तथा साँसों की गति भी धीमी पड़ने लगेगी। स्वरों की गति जब सम अवस्था वाली हो जाएगी, तब सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर प्राण गति करने लगेगा।

मैं यह बात स्पष्ट लिख दूँ – सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर प्राणों की गति उतनी ही दूरी तक होगी, जितना उसका अभ्यास है। सुषुम्ना के निचले भाग (मुँह पर) जब प्राण के धक्के लगने शुरू हो जाएँगे, तब कुण्डलिनी जाग्रत होकर ऊर्ध्व होने लगेगी। ऐसा न समझ लिया जाए कि अब सुषुम्ना के अन्दर प्राणवायु प्रवेश कर गयी है तो यह प्राणवायु सुषुम्ना के अन्दर ही अन्दर ऊपर तक चली जायेगी, ऐसा कदापि नहीं हो सकता है। सुषुम्ना नाड़ी का ऊपरी शिरा सहस्त्रार चक्र से सम्बद्ध रहता है। यह सहस्त्रार चक्र योगी के अन्तिम जन्म में विकसित होता है। कई जन्मों तक योगी जब कठोर अभ्यास करता रहता है, तब अन्तिम जन्म में सहस्त्रार चक्र विकसित होने का समय आता है। फिर कई वर्षों तक सहस्त्रार चक्र का विकासक्रम चलता रहता है। इस अवस्था में योगी को तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है तथा असीमित शक्तियों का स्वामी हुआ समाज का कल्याण करता रहता है। अन्त में स्थूल शरीर त्यागकर जन्म, जीवन और मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है।

विषम गति से चलने वाले स्वरों को अपनी इच्छानुसार बदला भी जा सकता है। इन स्वरों की गति से शारीरिक व मानसिक लाभ लेने के लिए श्वास की गति बदलने की क्रिया को सीख लेना अत्यन्त आवश्यक है। यह क्रिया अत्यन्त सरल है। सामान्य-सी चेष्टा करने पर श्वास की गति बदली जा सकती है।

1. जिस छिद्र से श्वास अधिक चलता हो, उसके विपरीत छिद्र को हाथ के अंगूठे से दबा देना चाहिए। फिर जिससे श्वास अधिक चल रहा है, उसी से वायु को जोर से अन्दर की ओर खींचना चाहिए; फिर उसी छिद्र को दबाकर (जिससे श्वास लिया है) दूसरे छिद्र से श्वास को निकाल देना चाहिए। फिर इसी छिद्र से श्वास लेकर दूसरे छिद्र से निकाल देना चाहिए। जिस छिद्र से श्वास लो, फिर दूसरे छिद्र से श्वास को निकाल दो; जिससे श्वास निकाली है, उसी छिद्र से श्वास लो फिर दूसरे छिद्र से निकाल दो। इसी प्रकार क्रमशः कुछ समय तक करते रहना चाहिए। एक छिद्र से श्वास ले फिर दूसरे छिद्र से निकाल दें। कुछ समय तक यही क्रिया करते रहने पर स्वर बदल जाएगा।

2. जो स्वर ज्यादा चल रहा हो, नाक के उसी छिद्र में स्वच्छ रूई की गोली-सी बनाकर लगा लें। गोली इस प्रकार की होनी चाहिये कि वह नाक के छिद्र में ज्यादा अन्दर तक न जाये अथवा छिद्र में किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। जिस छिद्र में रूई की गोली लगी हुई है, वह छिद्र पूरी तरह से बन्द हो जाए, फिर उस छिद्र के द्वारा श्वास बिल्कुल अन्दर न जाए। शुरूआत में थोड़ी घबराहट-सी होगी, फिर दूसरा स्वर सरलतापूर्वक चलने लगेगा। जुकाम के समय ऐसा न करें।

3. नाक के जिस छिद्र से स्वर अधिक चल रहा है, उसी करवट लेट जाएँ। कुछ समय तक लेटे रहें। इस क्रिया से स्वर बहुत ही शीघ्र सरलतापूर्वक बदल जाएगा। जुकाम के समय यह क्रिया अपनाना लाभदायक होगा, क्योंकि उस समय नाक का स्वर बन्द हो जाता है।

शारीरिक आवश्यकता पड़ने पर इच्छानुसार स्वर को बदला जा सकता है और लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं।

1. अधिक सर्दी के समय सूर्यनाड़ी ज्यादा चलाते रहने का प्रयास करते रहना चाहिये।
2. अधिक गर्मी के समय (मई-जून में) चन्द्र नाड़ी चलाने का प्रयास करना चाहिये।
3. जिन व्यक्तियों को अजीर्णता (अपच) की शिकायत हो अर्थात् भोजन ठीक से न पचता हो, उसे तब भोजन करना चाहिये जब सूर्यनाड़ी चल रही हो, अथवा स्वयं उपरोक्त क्रिया के द्वारा सूर्य नाड़ी अधिक चला ले। भोजन करने के कुछ समय बाद बाँये करवट के बल लेट जाना चाहिये तथा कुछ समय तक लेटे रहना चाहिये। कुछ दिनों तक ऐसा करने से इसके परिणाम मिलने शुरू हो जाएँगे।
4. मल-मूत्र त्याग करते समय दाँतों को आपस में दबाकर रखना चाहिये। तब तक दबाये रखना चाहिये जब तक मल-मूत्र त्यागा जा रहा है।

अगर गौर करें, तो बुजुर्ग लोग कहा करते थे कि मल-मूत्र त्यागते समय बात नहीं करना चाहिये। उन बुजुर्गों को शायद यह बात मालूम रही हो, लेकिन इसका कारण न पता हो। मगर इसमें प्राण-विज्ञान छिपा हुआ है क्योंकि उस समय अपानवायु तीव्र गति से कार्य कर रही होती

है तथा अधोगति को प्राप्त हो रही होती है। अपानवायु का सहयोग व्यान वायु और समान वायु को भी करना पड़ता है। संसारी मनुष्यों के भले ही निचले चक्र विकसित न हुए हों, मगर सूक्ष्म रूप से निचले तीनों चक्रों के क्षेत्र का प्राण तत्त्व विशेष प्रकार से क्रियाशील हो जाता है। उस समय सूक्ष्म रूप से मस्तिष्क भी कार्य कर रहा होता है। सिर वाले क्षेत्र में उदानवायु विशेष तरह से कार्य कर रही होती है तथा मस्तिष्क द्वारा अधिकार कर रहा होता है।

भाग-2

1. वायु तत्त्व द्वारा ब्रह्माण्ड की सृष्टि

प्रकृति अपनी रचना आकाश तत्त्व में अधिष्ठित होकर वायु तत्त्व के द्वारा करती है। सबसे पहले प्रकृति अपने आप को कारण स्वरूप में रचती है, फिर सूक्ष्म स्वरूप में रचती है, तथा अन्त में अपने आपको स्थूल स्वरूप में रचती है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रकृति (अपरा-प्रकृति) तीन अवस्थाओं में रहती है – (1) कारण अवस्था में, (2) सूक्ष्म अवस्था में, (3) स्थूल अवस्था में। चित्त की भूमि का निर्माण भी वायु तत्त्व की प्रधानता के द्वारा होता है। जीव चित्त पर हुई हलचल के अनुसार ही सुख-दुःख की अनुभूति करता रहता है। चित्त गुणों की विषमावस्था के कारण क्रमशः बहिर्मुख होता हुआ अन्त में स्थूल शरीर को प्राप्त हो जाता है। इसलिए स्थूल शरीर के द्वारा किये गये कर्मों के जो संस्कार बनते हैं, वे चित्त पर स्थित होते रहते हैं। ऐसा स्थूल पदार्थों के प्रति तृष्णा, मोह और अज्ञानता के कारण होता है। जब तक मनुष्य के अन्दर अज्ञानता बनी रहेगी, तब तक उसके द्वारा किये गये कर्मों से इसी प्रकार संस्कार बनकर चित्त की भूमि पर स्थित होते रहेंगे।

चित्त का निर्माण वायु तत्त्व की प्रधानता से हुआ है। वायु तत्त्व का स्वभाव स्पन्दन करना अथवा कम्पन करना होता है। इसलिए चित्त पर सदैव स्पन्दन होता रहता है। चित्त पर स्थित कर्माशयों पर वायु तत्त्व के स्पन्दन का प्रभाव पड़ता है। इन कर्माशयों को वृत्तियाँ भी कहते हैं, क्योंकि ये कर्माशय चित्त पर वृत्ताकार (गोलाकार) रूप में विद्यमान रहते हैं। अर्थात् चित्त पर होने वाले स्पन्दन के कारण वृत्तियों में भी स्पन्दन (कम्पन) होने लगता है, तब यह वृत्तियों बहिर्मुख होकर बाहर की ओर निकलने लगती हैं। अन्त में आँखों के द्वारा तेजस रूप से बाहर निकलकर सर्वत्र फैल जाती हैं और स्थूल पदार्थों के स्वरूप को धारण कर लेती हैं, फिर पदार्थों के स्वरूप का भान मस्तिष्क को कराती हैं। इस प्रकार मनुष्य स्थूल पदार्थों को देखता है।

चित्त पर दो प्रकार की उपस्थिति सदैव रहती है – (1) चित्त में वायु तत्त्व का स्पन्दन होना, (2) वृत्तियों (कर्माशय अथवा संस्कार) का उपस्थित रहना। ये दोनों (वृत्तियाँ और स्पन्दन

होना) एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते है अर्थात् एक दूसरे के पूरक है। प्राणों का स्पन्दन चित्त में सदैव होता रहता है। स्थूल शरीर व सूक्ष्म शरीर धारण किये हुए सभी प्राणियों के चित्त में स्पन्दन होता रहता है। यह प्राणी किसी भी स्थान में, किसी भी अवस्था को प्राप्त हो, मगर स्पन्दन होना कभी भी बन्द नहीं होता है, क्योंकि चित्त की संरचना ही प्राण तत्त्व की प्रधानता से हुई है। जब तक चित्त का अस्तित्व रहेगा, तब तक स्पन्दन होता रहेगा। जब तक स्पन्दन होगा, तब तक चित्त पर स्थित संस्कार बहिर्मुखी होकर प्रकट होते रहेंगे। यदि इन दोनों में से किसी एक पर प्रयत्न के द्वारा अधिकार कर लिया जाए, तब दूसरे पर अपने आप अधिकार हो जाएगा। दोनों एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते हैं, क्योंकि दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

प्राणों पर अधिकार पाने का सरल उपाय प्राणायाम है। वृत्तियों पर अधिकार पाने के लिए समाधि का अभ्यास करना होगा, क्योंकि समाधि के द्वारा ही वृत्तियों पर अधिकार पाया जा सकता है। प्राणायाम के द्वारा प्राणों को अपने अनुसार चलाने का प्रयास किया जाए, तो वृत्तियों की जो बहिर्मुखता हो रही है, उस पर प्रभाव पड़ता है अर्थात् वृत्तियाँ ठहरने लगती हैं।

2. प्राणायाम का स्थूल और सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव

प्राणायाम अष्टांग योग के अनुसार चौथी पायदान है। प्राणायाम का स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर अर्थात् दोनों शरीरों पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए प्राणायाम को बहिरंग और अंतरंग साधन माना गया है। प्राणायाम के भिन्न-भिन्न प्रकारों में से किसी भी प्रकार से प्राणायाम किया जाए, तो स्थूल शरीर पर उसका प्रभाव तो फेफड़ों पर पड़ता ही है, इसके साथ-साथ शरीर में विद्यमान ग्रन्थियों और सूक्ष्म नाड़ियों पर भी पड़ता है। इसके प्रभावित होने पर रक्त शुद्ध होने के

साथ-साथ स्फूर्ति की भी प्राप्ति होती है। स्थूल शरीर में व्याप्त सूक्ष्म शरीर पर न दिखाई देने वाला सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर का घनत्व बहुत ही कम होता है। इन स्थूल आँखों से सूक्ष्म शरीर इसलिए नहीं दिखाई देता है क्योंकि वह सूक्ष्म पंचभूतों द्वारा निर्मित होता है। स्थूल आँखें सूक्ष्म पंचभूतों व उनसे बने हुए पदार्थों को नहीं देख सकती हैं। ये आँखें सिर्फ स्थूल पंचभूत व इससे बने पदार्थों को ही देख सकती हैं।

प्राणायाम का अभ्यास करने पर पहले स्थूल शरीर शुद्ध होने लगता है। बहुत समय तक निरन्तर प्राणायाम का अभ्यास करते रहने पर, निश्चित अवधि के बाद सूक्ष्म शरीर प्रभावित होने लगता है। सूक्ष्म शरीर में ही चक्र व कुण्डलिनी-शक्ति विद्यमान रहती है। प्राणायाम के द्वारा जैसे-जैसे चित्त की मलिनता का नाश होता है, वैसे-वैसे सूक्ष्म शरीर शुद्ध होने लगता है। तब इन चक्रों पर प्राणायाम का प्रभाव पड़ने लगता है। फिर चक्रों पर स्थित मलिनता स्वच्छ होने लगती है तथा चक्रों का विकास क्रम होना भी शुरू होने लगता है। फिर कुण्डलिनी जाग्रत होकर ऊर्ध्व होने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर जोड़ने के बीच की कड़ी मस्तिष्क होता है। इसलिए प्राणायाम से मस्तिष्क बहुत ज्यादा प्रभावित होता है।

3. वायु तत्त्व का सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होना

मैंने अभी-अभी बताया है कि प्रकृति स्वयं अपने आप को वायु तत्त्व के द्वारा रचती है। इसी वायु तत्त्व के गुणों की विषमावस्था के कारण बहिर्मुख होने पर अग्नि तत्त्व प्रकट हो जाता है। वायु तत्त्व की अपेक्षा अग्नि तत्त्व का घनत्व अधिक होता है। अग्नि तत्त्व के बहिर्मुख होने पर जल तत्त्व प्रकट हो जाता है। अग्नि तत्त्व की अपेक्षा जल तत्त्व का घनत्व अधिक होता है। जल तत्त्व के बहिर्मुख होने पर पृथ्वी तत्त्व प्रकट हो जाता है। जल तत्त्व की अपेक्षा पृथ्वी तत्त्व का घनत्व बहुत ही अधिक होता है, इसलिए यह पूरी तरह से ठोसता को प्राप्त हो जाता है।

जो तत्त्व बहिर्मुख होकर दूसरे तत्त्व को प्रकट करता है, उसमें गुणों की विषमावस्था के कारण ऐसा होता है। पहले तत्त्व की अपेक्षा दूसरे तत्त्व में घनत्व की मात्रा व तमोगुण की मात्रा बढ़ती जाती है तथा सीमाएँ अर्थात् व्यापकता घटती जाती है। सत्वगुण की मात्रा भी घटती जाती है और ठोसता को प्राप्त होता जाता है। पहले तत्त्व की अपेक्षा दूसरे तत्त्व में तमोगुण की मात्रा बढ़ती जाती है। सत्वगुण का स्वभाव प्रकाश व हल्कापन होता है, तमोगुण का स्वभाव अंधकार व भारीपन होता है।

आकाश तत्त्व के अन्दर वायु तत्त्व विद्यमान रहता है, वायु तत्त्व के अन्दर अग्नि तत्त्व विद्यमान रहता है, अग्नि तत्त्व के अन्दर जल तत्त्व विद्यमान रहता है तथा जल तत्त्व के अन्दर पृथ्वी तत्त्व विद्यमान रहता है। आकाश तत्त्व रिक्तता (अवकाश) को कहते हैं। इसी आकाश तत्त्व में वायु तत्त्व के द्वारा सम्पूर्ण प्रकृति की रचना हुई है। वायु तत्त्व द्वारा रचना होने के कारण वायु तत्त्व सर्वत्र व्याप्त रहता है। सम्पूर्ण सृष्टि वायु तत्त्व के द्वारा होने के कारण, मूल रूप से सम्पूर्ण कार्य प्रणाली वायु तत्त्व के द्वारा ही हो रही है।

4. इंजीनियर ब्रह्मा

प्रकृति (अपरा) की तीनों अवस्थाएँ (कारण, सूक्ष्म, स्थूल) अर्थात् कारण जगत, सूक्ष्म जगत और स्थूल जगत, इनमें विद्यमान जो चौदह लोक हैं, उनमें स्थित सम्पूर्ण प्राणी और उनके जीवन (जन्म, आयु और मृत्यु) आदि की व्यवस्थापूर्वक ढंग से स्थिति और क्रिया हो रही है। इस व्यवस्था को देखने वाले भगवान ब्रह्माजी हैं। ये वायु तत्त्व के द्वारा व्यवस्था बनाये रखते हैं। ऐसा समझो– सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक बड़ा-सा कारखाना जैसा है, भगवान ब्रह्माजी इस विशाल कारखाने के इंजीनियर हैं, यह कारखाना वायु तत्त्व (प्राण तत्त्व) के द्वारा चल रहा है। इन्हीं

भगवान ब्रह्मा जी को सृष्टि का रचयिता कहा गया है। जिस प्रकार एक दीपक से दूसरा दीपक जला दिया जाता है, उसी प्रकार चित्त निर्माण के कार्य में सहयोग भगवान ब्रह्मा जी करते हैं।

5. प्राणी

यह प्रकृति ब्रह्माण्ड रूपी बड़ा पिण्ड है, मनुष्य शरीर रूपी छोटा पिण्ड है। जो बड़े पिण्ड रूपी ब्रह्माण्ड में विद्यमान रहता है, वही शरीर रूपी पिण्ड में विद्यमान रहता है। जैसे प्रकृति तीन अवस्थाओं में रहती है, मनुष्य का शरीर भी तीन अवस्थाओं वाला है। उच्चकोटि के साधक इसकी अनुभूति करते हैं। प्रकृति की तीन अवस्थाओं के कारण तीन प्रकार के जगत कहे जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्य शरीर भी तीन प्रकार का होता है। ये तीनों प्रकार के शरीर घनत्व और व्यापकतानुसार अपना-अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं। इस ब्रह्माण्ड में जितने भी देवी-देवता और विभिन्न प्रकार की दिव्य शक्तियाँ विद्यमान हैं, वे सभी प्रत्येक प्राणी के शरीर में भिन्न-भिन्न स्थानों में विद्यमान रहते है। मनुष्य के शरीर में ये स्थान शक्ति केन्द्र या चक्र के नाम से जाने जाते हैं। योग के अभ्यास के द्वारा ये शक्ति केन्द्र जाग्रत किये जा सकते हैं, फिर अभ्यासी उन शक्तियों का लाभ प्राप्त कर सकता है। ब्रह्माण्ड रूपी पिण्ड की सम्पूर्ण क्रियाएँ व्यवस्था पूर्वक वायु तत्त्व (प्राण तत्त्व) के द्वारा चलती है। शरीर रूपी पिण्ड में भी व्यवस्था पूर्वक क्रियाएँ प्राणवायु द्वारा ही चलती हैं। दोनों पिण्डों (बड़ा पिण्ड और छोटा पिण्ड) के सम्पूर्ण कार्य वायु तत्त्व (प्राण तत्त्व) के द्वारा ही होते हैं।

ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण जीवों को प्राणी भी कहते हैं, क्योंकि उनके शरीर प्राणों के सहारे ही जीवित रहते हैं। वह चाहे स्थूल शरीर में हो, सूक्ष्म अथवा कारण शरीर में हो, प्राणों के द्वारा ही सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न होते हैं। उनकी प्रकृति की जो स्थिति है, वह प्राण तत्त्व के द्वारा ही बनी हुई

है। जब तक मनुष्य के चित्त में स्पन्दन होता रहेगा, तब तक उसका अस्तित्व बना रहता है। उसका शरीर चाहे स्थूल जगत में रहे अथवा सूक्ष्म जगत में रहे, चित्त में स्पन्दन होता रहता है।

6. मृत्यु के समय प्राणों का कार्य

मनुष्य का शरीर जब वृद्धावस्था को प्राप्त होता है, तब उसका स्थूल शरीर अत्यन्त कमजोर होकर चलने-फिरने के योग्य नहीं रह जाता है। अन्त में मृत्यु को प्राप्त होने के समीप आ जाता है। सांसारिक पदार्थ और अपने परिवार व रिश्तेदार आदि छूट जाने का भय सताने लगता है। कमजोर मन वाले मनुष्य मृत्यु को याद करके दुःख की अनुभूति करने लगते हैं। मृत्यु प्राप्त होते समय प्राणों का महत्त्वपूर्ण कार्य होता है, क्योंकि स्थूल शरीर में व्याप्त हुए सूक्ष्म शरीर को अलग करने का कार्य प्राण ही करते हैं। प्राण सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। ये प्राण मृत्यु के समय सम्पूर्ण शरीर से सिमट कर हृदय की ओर आने लगता है। फिर प्राण हृदय में एकत्र होकर, सूक्ष्म शरीर इन प्राणों को अपने में समेटकर स्थूल शरीर से अपना सम्पर्क तोड़ देता है। तब सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से अलग खड़ा हो जाता है। जब सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से अपना सम्पर्क तोड़ कर अलग हो जाता है, तब अपने साथ दसों इन्द्रियों, पाँच प्राणों, मन, बुद्धि, अहंकार आदि को अपने में समेटकर अलग होता है।

मृत्यु को प्राप्त हो रहे शरीर के अन्दर प्राण जब क्रिया कर रहे होते हैं, तब मनुष्य को घोर कष्ट की अनुभूति होती है। जब शरीर के अन्दर प्राण हृदय की ओर खिंचकर एकत्र होने का प्रयास करते हैं तब शरीर में व्याप्त प्राणवायु घोर कष्ट की अनुभूति कराती है। जिस अंग से प्राणवायु खिंचती है, उस अंग को घोर कष्ट की अनुभूति होती है, क्योंकि कष्टों की अनुभूति प्राण ही कराते हैं। कष्ट इतना ज्यादा होता है कि वह मनुष्य दर्द के कारण बेहोश हो जाता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि वह कष्टों को सहन नहीं कर पाता है। उस समय उसे दिखाई देता

है– घोर अंधकार है, जोर-जोर से वायु चल रही है, ऐसा लगता है मानो आँधी या तूफान आ गया हो, वह उस आँधी में उल्टा-पुल्टा होकर उड़ रहा है, चारों ओर अन्धेरा छाया हुआ है। तब तक उस मनुष्य को होश आने लगता है क्योंकि शरीर में प्राणों का खिंचाव होना कम होने लगता है अथवा बन्द हो जाता है, तब उसे दर्द से राहत मिल जाती है तथा वह होश में आ जाता है। अब उसे ज्ञान होता है – मैं तो मर रहा था, मुझे उस समय घोर कष्ट हो रहा था, मैं अंधकार में उड़ता हुआ चला जा रहा था। मरने वाले को इस प्रकार के कई दृश्य दिखाई देते हैं। अब शारीरिक कष्ट तो समाप्त हो चुका होता है, मगर मानसिक कष्ट होना शुरू हो जाता है क्योंकि वह देखता है कि अब हमारे पत्नी, पुत्र, भाई-भतीजे, परिवार के अन्य सदस्य आदि छूटे जा रहे हैं।

शरीर में प्राणों का खिंचाव का कष्ट सहन न कर पाने के कारण बेहोशी के समय जो तेज हवा, आँधी या तूफान-सा दिखाई देता है, वह प्राणवायु का अंगों से खिंचाव ही इस प्रकार से दिखाई दे रहा होता है, क्योंकि नाड़ियों से जो प्राण खिंचकर हृदय की ओर जा रहा होता है, वह आँधी के रूप में दिखाई देता है तथा नाड़ियों में (शरीर में) कष्ट की अनुभूति कराता है। स्थूल आँखों से जब प्राणवायु खिंचती है तब उसकी देखने की शक्ति क्षीण होने लगती है, क्योंकि स्थूल आँख रूपी इन्द्रिय में व्याप्त सूक्ष्म शरीर की आँख रूपी इन्द्रिय प्राणों द्वारा अलग होने का प्रयास कर रही होती है, तभी उसे बेहोशी के समय घोर अन्धकार दिखाई देता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि ऐसा मनुष्य होश में आ जाता है, फिर भी दिन के उजाले में वह अपने पास खड़े परिवार के सदस्यों को देख नहीं पाता है। ऐसी अवस्था में आँखों की देखने की शक्ति क्षीण या समाप्त हो जाती है। फिर कभी-कभी देखने की शक्ति वापस आ जाती है। कानों की ग्रन्थियों से प्राणों के खिंचाव के कारण सुनने की क्षमता समाप्त होने लगती है, इसलिए उसे सुनाई देना बन्द होने लगता है, तब उसे घबराहट होने लगती है तथा कुछ समय के लिए वह सुन नहीं सकता है। जैसे ही प्राणवायु कानों की ग्रन्थियों में कार्य करना शुरू कर देती है, तब उसे सुनाई देने लगता है।

कुछ समय बाद फिर प्राणों के खिंचाव के कारण घोर कष्ट सहता हुआ वह बेहोश हो जाता है, फिर पहले जैसा दृश्य दिखाई देने लगता है। घोर अन्धकार है, तेज वायु चल रही है, वायु की जोर-जोर से साँय-साँय की आवाज सुनाई दे रही है। उस समय उसे कुछ भी समझ में नहीं आता है। तब वह अपने परिवार के सदस्यों के विषय में भूल चुका होता है। वह अपने आपको उस तेज चलती वायु में उल्टा-पुल्टा होता हुआ अकेला पाता है। तभी उसे अनुभूति होती है – वह दलदल में फँसा हुआ है, आगे का मार्ग अवरूद्ध-सा हो रहा है। ऐसा इसलिए दिखाई देता है, क्योंकि कुछ मनुष्यों के प्राण निकलते समय उनकी श्वास नली में कफ अवरूद्ध होने लगता है। इससे उसे मृत्यु के समय श्वास लेने में परेशानी होने लगती है। इसकी अनुभूति प्राण उसे दलदल में फँसे हुए के रूप में कराते हैं। बहुत समय तक इसी प्रकार की अवस्था बनी रहती है। प्राणों का खिंचाव कभी होता है, कभी खिंचाव होना बन्द हो जाता है। इसी प्रकार की क्रिया कुछ समय तक अथवा बहुत समय तक होती रहती है। अन्त में घोर कष्ट सहते हुए स्थूल शरीर को त्यागकर उसका सूक्ष्म शरीर बाहर खड़ा हो जाता है। तब उसे और भी दुःख की अनुभूति होती है, क्योंकि वह देखता है कि उसके सम्बन्धी उसकी लाश (शव) के सामने रो रहे होते हैं अथवा शोक प्रकट कर रहे होते हैं। उस समय वह उनके लिए कुछ नहीं कर सकता है, सिर्फ देख रहा होता है पर उसे कोई भी नहीं देख पा रहा होता है। फिर मृतक की आगे की यात्रा शुरू हो जाती है।

कभी-कभी ऐसा भी सुनने में आता है – अमुक व्यक्ति मर गया था, उसका सूक्ष्म शरीर गति करता हुआ आगे की ओर चला जा रहा था। फिर आगे उसे सुरंग-सी मिली, वह सुरंग के अन्दर से होता हुआ चला जा रहा था, सुरंग के उस पार प्रकाश दिखाई दे रहा था। मगर फिर वह अपने मृत शरीर में वापस आ गया। तब तक उसे सगे सम्बन्धी उसके मृत शरीर को श्मशान भूमि ले जा चुके थे, अथवा उसके मृत शरीर को चिता पर लिटाकर आग लगाने वाले थे, उसका शरीर जीवित होकर चिता के ऊपर बैठ गया। ऐसी अवस्था में कहा जाता है कि वह मनुष्य मरने के बाद भी जीवित हो गया, जब मर गया था तब यह अनुभव आया था। कभी-कभी इससे मिलती जुलती कुछ घटनाएँ विदेशों से भी सुनने को मिली हैं कि अमुक व्यक्ति मर

गया था, दो चार दिन बाद फिर जीवित हो गया। वह मृत्यु के बाद की विभिन्न तरह की अनुभूतियाँ तथा दृश्य भी बताता है आदि। कभी सुनने में आता है अमुक मनुष्य मर गया, वह ऊपर के लोक में चला गया, सामने एक महापुरुष ऊँचे स्थान में सिंहासन पर बैठा हुआ था, वह मुझे देखकर बोला इसे क्यों लेकर आये हो, इसे अभी और जीवित रहना था, इसे वापस छोड़कर आओ, दूसरे को लेकर आओ। ऐसी विभिन्न प्रकार की घटनाएँ सुनने को मिलती हैं।

मगर सत्य कुछ और होता है– ये सभी व्यक्ति जो कुछ भी बताते हैं, वह सत्य होता है क्योंकि मृत्यु के समय उन्हें ऐसा अनुभव आया होता है। यह व्यक्ति जब बेहोशी की अवस्था में होते हैं, तब उनके शरीर की बाह्य हलचल बन्द हो गयी होती है मगर उनकी मृत्यु नहीं हुई होती है। उनके परिवार के लोग समझ लेते हैं कि इनकी मृत्यु हो चुकी है। कुछ समय बाद वे फिर होश में आ जाते हैं। परिवार वालों का कहना होता है कि ये मरकर फिर दुबारा जीवित हो गये है। ऐसे मनुष्य मृत्यु को प्राप्त नहीं हुए होते है, वह बेहोशी (कारण अवस्था) की अवस्था में रहते हैं। ऐसा प्राणों के कारण होता है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर में प्राणों की हलचल नहीं हो रही होती है, इसलिए हृदय की गति रुक जाती है। ऐसी अवस्था में मस्तिष्क का कुछ भाग जीवित रहता है मगर उसे मरा हुआ समझ लिया जाता है। विज्ञान का विकास अभी इतना नहीं हुआ है कि इस अवस्था के विषय में सही रूप से जान सके। ऐसी घटनाओं के समय कुछ दिनों बाद प्राण सूक्ष्म और स्थूल शरीर में क्रिया करने लगता है। सत्य तो यह है कि प्राणवायु की गति ठहर जाती है, मगर उदान वायु मस्तिष्क में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से क्रिया करती रहती है। ऐसा मनुष्य मृत्यु को प्राप्त ही नहीं हुआ होता है, मगर उसे मृत समझ लिया जाता है।

मैं ऐसी एक सत्य घटना जानता हूँ जो एक साधक के पिताजी ने मृत्यु के दो दिन बाद बताया। उन्होंने अपने बेटे से कहा – "मैं मरा नहीं था, मैं उस समय जीवित था, मगर तुम सब ने मुझे मरा हुआ समझकर मेरे शरीर को जला दिया था"। उस साधक ने श्री माता जी से (मेरी गुरुमाता से) मेरे ही सामने ये बातें मिरज (महाराष्ट्र) में बताई थी। यह साधक दिल्ली का रहने वाला था। उस समय यह बात मुझे भी बताई थी, क्योंकि उससे मेरी बहुत मित्रता थी। मैंने अपने

जीवन में कुछ घटनाएँ स्वयं प्रत्यक्ष देखी हैं। घरवालों ने और मुहल्ले वालों ने एक व्यक्ति को मृत घोषित कर दिया गया, रीति-रिवाज के अनुसार पुरोहित (ब्राह्मण) द्वारा शुरूआत का कर्म-काण्ड भी कर दिया गया, मगर कुछ घण्टों के बाद जीवित होकर बैठ गये। फिर पाँच-छ: माह तक जीवित रहे। ऐसा प्राणों के कारण होता है वह एक जगह ठहर जाता है और किसी प्रकार की क्रिया भी नहीं करता है।

7. मृत्यु के समय प्राण निकलने के अनुसार आगे की गति

मृत्यु के समय मनुष्य के शरीर से भिन्न-भिन्न स्थानों से प्राण बाहर निकलते हैं। प्राण जिस स्थान से बाहर की ओर निकलते हैं, उसी स्थान के अनुसार अनुमान लगा लिया जाता है कि वह किस प्रकार की गति को प्राप्त हुआ है। मनुष्य के शरीर में एक ही प्राण सभी जगह कार्य करता है। मगर शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करने के कारण उन्हें अलग-अलग नामों से जाना जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि प्राण पाँच प्रकार के होते हैं। इनके नाम भी भिन्न-भिन्न हैं – **1.** प्राण **2.** अपान **3.** व्यान **4.** समान **5.** उदान। इन पाँचों का एक-एक उप प्राण भी होता है, उनके नाम इस प्रकार हैं– **1.** कूर्म **2.** नाग **3.** कृकल **4.**देवदत्त **5.** धनञ्जय। इस प्रकार दस प्राण हो जाते हैं। इनके कार्य भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। इनका विवरण अन्यत्र लिखेंगे।

मृत्यु के समय प्राण मुख्य रूप से चार द्वारों से बाहर की ओर निकलते हैं। इन चारों द्वारों के नाम इस प्रकार से है – **1.** ब्रह्मरन्ध्र द्वार से **2.** नेत्रों से **3.** मुँह से **4.** गुदाद्वार से। इन भिन्न-भिन्न द्वारों से निकली हुई प्राणवायु वाली जीवात्माओं की गति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती

है। गुदाद्वार के क्षेत्र में अपानवायु कार्य करती है। इसी अपानवायु के द्वारा मल-मूत्र का त्याग किया जाता है। यह वायु सदैव अधोगति को प्राप्त होती रहती है। मुँह और नेत्रों से प्राण निकलने के समय प्राणवायु और समान वायु का ज्यादा प्रभाव रहता है। प्राणवायु हृदय के क्षेत्र में कार्य करती है। समान वायु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहती है तथा शरीर के प्रत्येक अंगों को व्यवस्थित ढंग से कार्य करने में सहायता करती है। ब्रह्मरन्ध्र द्वार के अन्दर से प्राणवायु निकलने से उदान वायु कार्य करती है। उदान वायु सिर के क्षेत्र में कार्य करने के कारण मृतात्मा को ऊर्ध्वगति प्रदान करती है।

मृत्यु के समय जिस मनुष्य की प्राणवायु गुदाद्वार से निकलती है, ऐसी जीवात्मा आगे चलकर अधोगति को प्राप्त होती है। इस स्थान से निकलने वाली प्राणवायु वाले मनुष्य निम्न श्रेणी के कार्य करने वाले होते हैं। ऐसे मनुष्य अपने जीवन में अधर्म से युक्त कर्मों में सदैव लिप्त रहते हैं। इस श्रेणी में वे मनुष्य आते है, जो सदैव असत्य के मार्ग पर चलने वाले होते हैं, जैसे – झूठ बोलना, धोखा देना, चोरी करना, बेईमानी करना, दूसरों को सदैव किसी प्रकार से कष्ट देना, दूसरों की सदैव निन्दा करना, अकारण ईर्ष्या-द्वेष और घृणा करना, नशीले पदार्थों में डूबे रहना, व्यभिचार करना आदि। इस प्रकार के कर्म करने वालों का चित्त सदैव तमोगुणी कर्मों से आच्छादित रहता है। ऐसे शरीरों में प्राण सदैव अशुद्ध रहता है, अशुद्ध प्राणों वाले मनुष्य मृत्यु के पश्चात सदैव अधोगति को प्राप्त होते है। इनकी आगे की यात्रा (मृत्यु के पश्चात) घोर कष्टों से युक्त रहती है तथा विभिन्न प्रकार के कष्टों को सदैव भोगना ही होता है। ऐसी जीवात्माओं का अगला जन्म मनुष्य जाति में होगा अथवा नहीं होगा यह कहना बहुत मुश्किल है क्योंकि इस गति को प्राप्त हुई जीवात्माओं का जन्म पशु-पक्षी और रेंगने वाले (जलीय आदि) शरीर में होता है तथा अपने किए हुए कर्मों को भोगते रहते हैं।

जिन मनुष्यों की मृत्यु के समय प्राणवायु मुँह और नेत्रों के द्वारा बाहर निकलती है ऐसी जीवात्माएँ अज्ञानतावश आसक्ति के कारण वासना देह को प्राप्त कर निश्चित समय तक मृत्युलोक में ही भटकती रहती हैं, फिर उचित समय आने पर ऊर्ध्वगमन कर जाती हैं। इस श्रेणी

में वे मनुष्य आते हैं, जो संसार में आसक्त हुए भी पुण्य कर्मों में रुचि रखते हैं तथा दूसरों की सेवा व परोपकार के कार्यों में लगे रहते हैं। धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, मिश्रित कर्म करते हुए ईश्वर परायण होते हैं। ऐसे मनुष्यों का चित्त धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य से युक्त होने के कारण चित्त में सत्वगुण का भी प्रभाव रहता है। मृत्यु के पश्चात ऐसी जीवात्माओं को कुछ समय तक कष्ट सहने के बाद पितृलोक की प्राप्ति होती है। वहाँ पर किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति नहीं होती है, वहाँ पर सिर्फ सुख ही सुख की अनुभूति होती है। वहाँ पर जीवात्माएँ सिर्फ पुण्य कर्मों का ही भोग करती रहती हैं। निश्चित मात्रा में पुण्य की समाप्ति पर जन्म लेने के लिए नीचे की ओर पतन हो जाता है। ऐसी जीवात्माओं को मनुष्य देह की प्राप्ति होती है। कर्मानुसार जीवात्मा गरीब या अमीर परिवार में जन्म लेती है। इसीलिए कुछ बच्चे जन्म लेते ही सुख-सुविधा में और धन आदि से सम्पन्न हो जाते हैं, मगर कुछ बच्चों का जन्म ऐसे परिवार में होता है कि उन्हें पेटभर भोजन भी नसीब नहीं होता है। यह सब कर्मों के प्रभाव के कारण ही होता है।

उच्च कोटि के साधकों और योगियों के प्राण ब्रह्मरन्ध्र द्वार से बाहर निकलते हैं। संसारी मनुष्यों का प्राण ब्रह्मरन्ध्र द्वार से नहीं निकलता है। योगी अपना स्थूल शरीर त्यागते समय अपने शरीर की सम्पूर्ण प्राणवायु एकत्र करके ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर समेट लेते हैं। फिर विशेष प्रकार की क्रिया के द्वारा अपनी प्राणवायु को स्थूल शरीर से बाहर निकालकर अपने लोक में चले जाते हैं और फिर वहीं पर स्थित हो जाते हैं। प्राणों को स्थूल शरीर से अलग करते समय उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं उठाना पड़ता है क्योंकि समाधि अवस्था में वह अपने प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर कई-कई घण्टों तक रोके रखने का अभ्यास करते आए हैं। शरीर त्यागते समय उन्हें प्राणों का हल्का-सा झटका लगता है, झटके के साथ ही प्राणों को स्थूल शरीर से अलग कर लेते हैं। इस अवस्था में उदान वायु कार्य कर रही होती है। उदान वायु का स्वभाव होता है वह जीवात्मा को ऊर्ध्व लोकों में ले जाती है। इसलिए प्राण विज्ञान में उदान वायु का महत्त्व बहुत अधिक होता है। योगी इसी उदान वायु का संयम किया करते हैं।

मृत्यु के समय प्राणवायु की गति का ही महत्त्व होता है। आगे का मार्ग भी प्राण तत्त्व के द्वारा तय किया जाता है। यह प्राण तत्त्व समस्त सूक्ष्म लोकों में व्याप्त रहता है। जिसका प्राण अधिकांश रूप में अशुद्ध होगा, मृत्यु के समय उसकी अधोगति ही होगी। उस समय अपानवायु अधिक प्रभावी हो जाती है, क्योंकि ऐसे मनुष्य ने अपनी प्राणवायु कभी भी शुद्ध करने का प्रयास ही नहीं किया होता है। मनुष्य जैसा भोजन करता है और जैसा कर्म करता है उसका प्रभाव चित्त पर पड़ता है। चित्त के साथ-साथ उसका प्रभाव प्राणों पर भी पड़ता है, इसलिए हर मनुष्य का कर्तव्य है कि वह प्राणों को शुद्ध बनाए रखने का प्रयास करता रहे। अच्छे कर्म करने वालों का प्राण कर्मानुसार शुद्धता को प्राप्त होता है। जो मनुष्य प्राणायाम करने का अभ्यास करता है तथा समाधि का अभ्यास भी करता है, उसका प्राण अभ्यासानुसार ज्यादा शुद्ध होता है। इसी कारण योग के अभ्यासियों के चक्र भी विकसित होकर खुल जाते हैं। अगर शरीर में स्थित प्राण शुद्ध हैं तो मनुष्य का स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर में भी शुद्धता रहेगी। इस शुद्धता के अनुसार ही मनुष्य अपने जीवन में व्यवहार करता है तथा अन्त में मृत्यु के समय उसे कम कष्ट की अनुभूति होती है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मृत्यु के पश्चात की गति भी प्राणों की शुद्धता पर निर्भर हुआ करती है। इसलिए प्राणों की शुद्धता पर सदैव ध्यान देना चाहिये।

ज्यादातर मृत्यु के समय संसारी मनुष्यों की अपानवायु ही कार्य करती है तथा पुण्यवान मनुष्य की प्राणवायु कार्य करती है क्योंकि उनका प्राण मुँह या नेत्र से बाहर निकलता है। ये मनुष्य स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात वासना देह को प्राप्त हो जाते हैं। वासना देह पारदर्शी आवरण या झिल्ली जैसी होती है। यह वासना देह (शरीर) अज्ञानता से युक्त इच्छाओं के कारण प्राप्त होता है। इस वासना देह की उम्र बहुत ज्यादा होती है। इसलिए जीवात्मा बहुत समय तक पृथ्वी की परिधि में भटकती रहती है। इनकी वासनाएँ (इच्छाएँ) और घर-परिवार, रिश्तेदार-मित्रों आदि के प्रति मोह इन्हें दुःख की अनुभूति कराते रहते हैं। ऐसी जीवात्माएँ भूख-प्यास से दुःखी रहती हैं क्योंकि इन्हें भूख-प्यास सताती रहती है। मृत्यु के बाद ऐसी जीवात्माएँ अपने घर-परिवार की ओर आसक्ति से युक्त होकर देखती रहती हैं। बहुत समय तक भटकने के बाद भी जब इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती है, तब उनकी आसक्ति अपने सगे-सम्बन्धियों के प्रति

समाप्त हो जाती है। फिर वह जीवात्मा वासना देह से मुक्त होकर ऊर्ध्व गति (ऊपर की ओर) कर जाती है। वह जीवात्मा पहले भुवर्लोक में जाती है। भुवर्लोक में पहले अपने कुछ तमोगुणी कर्मों का भोग करके पितर लोक में चली जाती है। इस पितर लोक में किसी प्रकार का कष्ट प्राप्त नहीं होता है, सिर्फ सुख की अनुभूति होती है। यहाँ पर उस जीवात्मा के सत्वगुणी कर्माशयों का फल नष्ट होता रहता है अर्थात् पुण्य क्षीण होता रहता है। पुण्य के प्रभाव से किसी प्रकार के दुःख की अनुभूति नहीं होती है, इसलिए यहाँ भूख और प्यास भी नहीं लगती है। उचित मात्रा में पुण्य क्षीण होने के बाद अर्थात् भोगने के बाद जन्म लेने के लिए भूलोक पर आ जाती है। ऐसी जीवात्माओं को मनुष्य शरीर में जन्म मिलता है। कर्मानुसार गरीब और अमीर माता-पिता के यहाँ जन्म ग्रहण करते हैं।

जिस साधक ने अभ्यास के द्वारा अपना कण्ठचक्र खोल लिया है अथवा खुल चुका है, पर अभी ब्रह्मरन्ध्र नहीं खुला है, ऐसे साधकों के प्राण मृत्यु के समय ऊर्ध्वमुखी होकर निकलते है। इस अवस्था में उदान वायु अधिक क्रियाशील रहती है। इन साधकों की जीवात्मा वासना देह में नहीं जाती है, बल्कि तुरन्त ऊर्ध्वगमन कर जाती है। ऐसे साधक अपनी योग्यतानुसार महर्लोक या जनलोक में चले जाते हैं। वहाँ पर समाधि अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि उस लोक का यही नियम है।

जिन साधकों का ब्रह्मरन्ध्र खुला हुआ है और कुण्डलिनी पूर्ण यात्रा करके स्थिर हो गयी है, ऐसे साधकों के प्राण मृत्यु के समय ब्रह्मरन्ध्र द्वार से बाहर की ओर निकल जाते हैं, तब उदान वायु प्रधान रूप से कार्य कर रही होती है। उदान वायु का कार्य है – मृत्यु के बाद योगियों व साधकों को ऊर्ध्व लोक में ले जाना। यह उदान वायु योगियों के लिए ही प्रधान रूप से कार्य करती है। ऊर्ध्व लोकों को प्राप्त योगी अपने लोक में समाधि का अभ्यास करते रहते है। उचित समय पर अथवा प्रकृति द्वारा प्रेरित होकर भूलोक पर जन्म ग्रहण करने के लिए आ जाते हैं। कर्मानुसार अपने माता के गर्भ से जन्म ग्रहण करके उचित समय पर फिर योग का अभ्यास करना शुरू कर देते है।

दुर्घटना के द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुए मनुष्य की गति ज्यादातर निम्न श्रेणी के अन्तर्गत ही आती है। ज्यादातर शब्द इसलिए लिखा है कि अगर किसी साधक की मृत्यु दुर्घटना में हो गयी, परन्तु उसकी कुण्डलिनी अभ्यास के समय कण्ठचक्र तक ऊर्ध्व हो रही थी, तब वह निम्न श्रेणी की गति को प्राप्त नहीं होगा। हो सकता है मात्र कुछ समय के लिए वासना देह (शरीर) में चला जाए, मगर वह इस वासना देह से शीघ्र ही मुक्त हो जाएगा, फिर वह ऊर्ध्व गति को प्राप्त हो जाएगा। मगर संसारी मनुष्य यहीं वासना देह में भटकता रहेगा। फिर अपने कर्मानुसार ही आगे की यात्रा करेगा।

छोटे बच्चों की मृत्यु के समय प्राण किसी भी क्षेत्र से निकले, मगर वह वासना देह को प्राप्त नहीं होते हैं क्योंकि उनके अन्दर अभी आसक्ति का भाव सांसारिक पदार्थों के प्रति अधिक विकसित नहीं हुआ होता है। इसलिए छोटे बच्चे जिनकी आयु 8-10 वर्ष तक है, मृत्यु के पश्चात अगला जन्म शीघ्र ग्रहण कर लेते हैं। कभी-कभी देखने में आया है कि दुर्घटना या अकाल मृत्यु को प्राप्त हुआ मनुष्य शीघ्र ही अगला जन्म ग्रहण कर लेता है, परंतु ऐसा बहुत ही कम होता है। पशु-पक्षी आदि वासना देह को प्राप्त नहीं होते हैं, क्योंकि उनका शरीर कर्मभोग के अन्तर्गत आता है। वे अपना सिर्फ कर्म भोगते हैं। मृत्यु के पश्चात उनकी जीवात्मा ऊर्ध्वगमन कर जाती है। मृत्यु के बाद वासना देह में सिर्फ मनुष्य की ही जीवात्मा जाती है। जो मनुष्य आत्महत्या करके अपना स्थूल शरीर त्याग देते हैं, उनकी गति निश्चय ही निम्न श्रेणी की होती है। उन्हें बहुत समय तक वासना देह में भटकना पड़ता है। इसलिए मनुष्य को कभी भी आत्महत्या नहीं करनी चाहिये। उसकी जिन्दगी में जो भी परेशानियाँ या कष्ट आएँ, उन कष्टों को सहन करते हुए जीवन जीना चाहिए क्योंकि इस प्रकार के कष्ट स्वयं उनके कर्मों के कारण मिल रहे होते हैं। ऐसे कर्मों को भोगकर समाप्त करने चाहिये। अगर ऐसा नहीं किया, तो इन कर्मों का भोग अगले जन्मों में करना पड़ेगा। अपने शरीर को इस प्रकार त्याग देना परेशानियों से मुक्त होना नहीं है। क्योंकि कर्मों को भोगकर ही नष्ट करना पड़ता है। अधर्म से युक्त तमोगुणी कर्मों की यात्रा चित्त पर एक निश्चित अनुपात से अधिक हो जाती है, तब अगला जन्म पशु-पक्षी के शरीर को प्राप्त कर उन कर्मों भोगते हुए घोर कष्ट उठाना पड़ता है।

8. धनञ्जय प्राण

शरीर के अन्दर कार्य करने के अनुसार प्राण को पाँच भागों में बाँट दिया गया है। इसीलिए पाँच प्रकार के प्राण कहे जाते हैं। इन पाँचों प्राणों के एक-एक उप प्राण भी होते हैं। इन्हीं पाँचों उप प्राणों में एक प्राण धनञ्जय प्राण है। यह प्राण उदान नामक प्राण का सहायक (उप) प्राण है। इसका सम्बन्ध आकाश तत्त्व से होता है। उदान वायु सिर के अन्दर वाले क्षेत्र में कार्य करती है। इस प्राणवायु का प्रयोग योगी पुरुष अधिक लिया करते हैं। मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर के साथ सभी प्राण चले जाते हैं, मगर धनञ्जय प्राण शरीर के अन्दर कुछ समय तक बना रहता है। यह प्राण सिर के ऊपरी भाग में रहता है। इसीलिए हमारे यहाँ एक प्रथा भी है– जब शव को अग्नि में जलाया जाता है अर्थात् दाह संस्कार किया जाता है, तब कपाल क्रिया की जाती है। उस समय शव के सिर के ऊपरी भाग में लकड़ी का दबाव देकर छिद्र किया जाता है ताकि इसमें स्थित धनञ्जय प्राण बाहर निकल जाए। वर्तमान समय में कपाल क्रिया करने वाला नहीं जानता है कि शव दहन के समय ऐसा क्यों किया जाता है। धनञ्जय प्राण बाहर निकलकर आकाश तत्त्व में विलीन हो जाता है।

9. हृदय की धड़कन बन्द होने के बाद भी मस्तिष्क का जीवित रहना

मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर सभी प्राणों और सूक्ष्म इन्द्रियों आदि को समेट कर अपने अन्दर स्थित कर लेता है, फिर स्थूल शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है। तब हृदय की धड़कन जो प्राणों के कारण हो रही है, वह शान्त हो जाती है, तब कहा जाता है कि अमुक मनुष्य की मृत्यु हो गयी है। मृत्यु का निर्णय हृदय की धड़कन के बन्द हो जाने से मानते हैं। मगर

इसके अतिरिक्त कुछ और भी सत्य है। कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि हृदय की धड़कन बन्द हो जाती है, फिर भी मनुष्य की मृत्यु नहीं होती है; ऐसी अवस्था में उसका मस्तिष्क जीवित रहता है। मस्तिष्क के जीवित रहने पर सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध स्थूल शरीर से टूटता नहीं है, बल्कि बना रहता है, जबकि हृदय में धड़कन भी नहीं हो रही होती है। इस अवस्था में उसे मृत समझ लिया जाता है और उसके (मृतक) स्थूल शरीर को उसके परिवार वाले जला देते हैं। ऐसी घटना मेरे एक जानकार के यहाँ घटी है – दिल्ली में एक साधक के पिताजी की इसी प्रकार की मृत्यु घोषित होने पर उनके परिवार वालों ने शरीर को जला दिया, मगर वे मरे नहीं थे। फिर उसके पिताजी ने अपने पुत्र (साधक) से सम्पर्क करके बताया – "आपने मुझे जिन्दा ही जला दिया था, उस समय मैं मरा नहीं था"। मैं ऐसी एक और घटना जानता हूँ – यह बात सन् 1999 की है। मैं आगरा (उ०प्र०) शहर के एक जानकार के पास किसी कार्य के लिए गया हुआ था। वहाँ पर 9-10 वर्ष की मृत लड़की की जीवात्मा से सम्पर्क हुआ था, यह सम्पर्क स्वयं उसी जीवात्मा ने किया था। उस लड़की ने अपने मृत्यु के समय की सम्पूर्ण घटना बताई – "मैं मरी नहीं थी, घर वालों ने मुझे मरा हुआ समझकर बेहोशी की अवस्था में जमीन के अन्दर दफन कर दिया था"। यह बात जब मैंने उनके घर वालों को बताई, तब उन्हें पहले यकीन नहीं हुआ। जब मैंने उस लड़की की मृत्यु के समय की सम्पूर्ण घटना बताना शुरू किया, तब उनके परिवार वालों को यकीन हुआ। उस लड़की ने और भी बहुत-सी बातें अपने घर की बताई थी। फिर मैं वहाँ से चला आया।

बहुत से मनुष्य बताया करते हैं – मेरी मृत्यु हो गयी थी, फिर मैं अपने शरीर में वापस आ गया। उस समय की कुछ घटनाएँ ऐसे मनुष्य बताने लगते हैं – मृत्यु के बाद मैंने इस प्रकार से आगे की यात्रा की, मुझे इस प्रकार की अनुभूति हुई, इस प्रकार का दृश्य दिखाई दिया, जैसे प्रकाशित अथवा अंधकार से युक्त सुरंग से मैं आगे की ओर चलता जा रहा था, आगे प्रकाश दिखाई दिया अथवा दूर प्रकाश दिखाई दिया आदि; मुझे यमदूत ऊपर ले गये, वहाँ के विभिन्न प्रकार के दृश्य बताएँगे, उन्हें फिर वापस भेज दिया गया, मैं अपने मरे हुए शरीर के पास फिर वापस आ गया। इस प्रकार की घटनाओं के समय उनके हृदय की धड़कन भी बन्द हो चुकी

होती है मगर मस्तिष्क जीवित रहता है, अथवा हृदय की धड़कन नहीं के बराबर होती है। फिर कुछ समय बाद हृदय गति सामान्य रूप से चलने लगती है। वह अपने सामान्य जीवन में वापस आ जाता है। मगर ऐसी घटनाओं के समय समाज में कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति मरकर जिन्दा हो गया है। ऐसी अवस्था में प्राणों की गति के अनुसार उन्हें अनुभव आ जाते हैं, जैसे साधक को ध्यानावस्था में अनुभव आते है। एक बात हमेशा ध्यान रखने योग्य है – जब तक पूर्ण रूप से मस्तिष्क निष्क्रिय न हो जाए, तब तक मृत्यु होना नहीं समझना चाहिये।

मस्तिष्क निष्क्रिय अथवा सक्रिय है, यह समझ पाना बहुत मुश्किल ही नहीं असम्भव-सा है। अभी तक विज्ञान इतना विकास नहीं कर पाया है कि वह मस्तिष्क की इस अवस्था के बारे में कुछ निर्णय ले सके। सिर्फ उच्च कोटि का साधक या योगी ही इस बात को सही ढंग से समझ सकता है अथवा निर्णय ले सकता है, क्योंकि उसने अभ्यास के द्वारा अपना सूक्ष्म शरीर विकसित कर लिया है। इसलिए इस विषय में वर्तमान के शोधकर्ताओं की अपेक्षा योगी को अधिक ज्ञान रहता है।

10. मृत्यु के समय योग के अभ्यासी को कष्ट न होना

संसारी मनुष्यों के समान, योग का अभ्यास करने वाले को मृत्यु के समय कष्ट नहीं होता है। सामान्य मनुष्य सिर्फ अपने आप को स्थूल शरीर समझे रहता है। वह स्थूल शरीर से आगे सूक्ष्म शरीर की बात स्वीकार ही नहीं करता है बल्कि इस विषय में ज्यादातर मनुष्य अनजान रहते हैं। अपना जीवन सिर्फ स्थूल पदार्थों को प्राप्त करने में और भोग करने में व्यतीत करते रहते हैं। ऐसे मनुष्यों ने कभी भी प्राणों का संयमन नहीं किया होता है और न ही अपना कभी

आन्तरिक विकास करने की कोशिश की होती है; इन्द्रियों और प्राणों के अधीन होकर अपना जीवन व्यतीत किया है। ऐसे मनुष्य को मृत्यु के समय प्राणों के द्वारा निश्चय ही कष्ट सहना होगा अर्थात् प्राणों द्वारा अनुभूत कराई गयी वेदना सहनी होगी, क्योंकि मृत्यु के समय जब सम्पूर्ण शरीर में प्राण खिंचाव लेकर हृदय की ओर एकत्र होने का प्रयास करेंगे, उस समय मनुष्य असहनीय दर्द को सहता हुआ बेहोशी को प्राप्त होता है। फिर कुछ समय बाद होश में आता है, तब वही प्राणों द्वारा कष्ट की अनुभूति होती है; यही क्रिया चलती रहती है।

जिसने प्राणायाम का अभ्यास कई वर्षों तक किया है और अन्त समय तक करते रहते हैं, उन्हें मृत्यु के समय कष्टों की ज्यादा अनुभूति नहीं होती है, क्योंकि अभ्यास के समय आन्तरिक कुम्भक और बाह्य कुम्भक का कई वर्षों तक अभ्यास किया है। उन्हें प्राणों के संकुचन और फैलाव के नियमित अभ्यास की आदत है, इसलिए मृत्यु के समय सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा कम कष्टों की अनुभूति होगी, तथा मृत्यु के पश्चात की अवस्था सामान्य की अपेक्षा उच्च होगी। उसे वासना देह में कम समय भटकना पड़ेगा।

जो अभ्यासी योग में उच्चावस्था को प्राप्त कर चुके है अर्थात् जिनका कण्ठचक्र खुल चुका है और ब्रह्मरन्ध्र से निचली अवस्था प्राप्त किये हुए हैं, ऐसे अभ्यासी सविकल्प समाधि का अभ्यास किये हुए होते हैं। उन्हें अभ्यासानुसार मृत्यु के समय प्राणों के द्वारा बहुत ही कम पीड़ा सहनी पड़ती है। मगर जिन अभ्यासियों का ब्रह्मरन्ध्र खुला हुआ है, वे निर्विकल्प समाधि का अभ्यास कर रहे हैं। ऐसे अभ्यासियों को मृत्यु के समय प्राणों का जोर से झटका लगता है, और स्थूल शरीर से उनके सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध टूट जाता है; स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात ऊर्ध्व लोक की प्राप्ति होती है। जिन अभ्यासियों की कुण्डलिनी पूर्ण यात्रा कर स्थिर हो चुकी है तथा इससे आगे की अवस्था प्राप्त किये हुए हैं, ऐसे अभ्यासी मृत्यु के समय कष्ट रहित होकर स्थूल शरीर त्याग कर देते हैं। मैं एक बात स्पष्ट कर दूँ – भले ही किसी योगी ने चाहे जितनी साधना की हो, प्रत्येक योगी को प्राणों का हल्का-सा झटका अवश्य लगता है जब वह शरीर का त्याग करता है। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के बीच में सूक्ष्म तारतम्य होता है; जब वह

मृत्यु के समय टूटता है, तब हल्का प्राणों का झटका अवश्य लगता है। मगर जिन्होंने सबीज समाधि की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लिया है और निर्बीज समाधि का अभ्यास कर रहे हैं, उन्हें मृत्यु के समय ऐसा लगता है जैसे अपने ऊपर चढ़े हुए आवरण को निकाल फेंक दिया हो।

11. मृत्यु के बाद भूख और प्यास की अनुभूति

हिन्दू धर्म में कर्म-काण्ड के अनुसार मृतात्मा को जल का तर्पण करते है अर्थात् विशेष तरीके से जल को सूर्य की ओर डालते हुए संकल्प करते हैं – यह जल मृतात्मा को प्राप्त हो जाए तथा आत्म-शान्ति हेतु तेरहवीं भी करवाते हैं, जिसमें ब्राह्मणों को भोजन भी करवाते हैं आदि। इस प्रकार कर्म-काण्ड के द्वारा भोजन और पानी को देने का कार्य किया जाता है, यह कर्म-काण्ड निश्चय ही सत्य पर आधारित है। अज्ञानी मनुष्य इस कार्य के लिए तर्क-वितर्क भी करते हैं, क्योंकि उन्हें ये मालूम नहीं होता है कि ऐसा क्यों किया जाता है अथवा क्यों किया जा रहा है। बात बिल्कुल स्पष्ट है – मृतात्मा को भोजन और जल दिया जा रहा है ताकि इसे ग्रहण करके उनकी भूख और प्यास की पीड़ा शान्त हो जाए, जिससे मृतात्मा भूख और प्यास की पीड़ा की अनुभूति न करे और वह तृप्त हो जाए।

अब यह प्रश्न उठता है – क्या कर्म-काण्ड के द्वारा भोजन मृतात्मा को प्राप्त हो जाता है? उत्तर है – मृतात्मा को भोजन और पानी तभी प्राप्त हो सकता है, जब मृतात्मा को जो भोजन देने का माध्यम बना हुआ है, उसके अन्दर इतना सामर्थ्य हो कि वह अपने योगबल के द्वारा स्थूल भोजन से सूक्ष्म भोजन को निकालकर उस मृतात्मा तक पहुँचा दे। वर्तमान समय में अधिकतर ब्राह्मण जो कर्म-काण्ड करते हैं, उनके पास इतनी सामर्थ्य नहीं होता है, क्योंकि उनके पास इतना योगबल या तपोबल ही नहीं होता है। ऐसे में भोजन मृतात्मा को प्राप्त नहीं हो पाता है। आजकल के अधिकांश ब्राह्मण सिर्फ रुपयों के लोभ में कर्म-काण्ड करते हैं, अर्थात् यह कार्य

पूरी तरह से व्यापार जैसा हो गया है। स्थूल भोजन से सूक्ष्म भोजन वही पुरुष अलग कर सकता है अर्थात् निकाल सकता है, जिसने योग का कठोर अभ्यास किया होता है और अभ्यास के द्वारा अपना आन्तरिक विकास किया होता है। मेरा सोचना यह है कि इस योग्यता वाला वर्तमान समय में लगभग कोई भी व्यक्ति इस प्रकार पुरोहिती का कार्य नहीं करेगा। जब तक सूक्ष्म भोजन देने वाला कोई योग्य पात्र नहीं मिलता है, मृतात्मा स्थूल भोजन ग्रहण नहीं कर सकती है।

इस प्रकार की जीवात्माओं (मृतात्माओं) के भोजन का कार्य उच्चावस्था प्राप्त योगी अथवा उच्च श्रेणी का भक्त या साधक ही कर सकता है। उच्च श्रेणी के साधक के अन्दर इतना सामर्थ्य होता है कि वह स्थूल पदार्थ से सूक्ष्म पदार्थ को अलग कर सके तथा वह सूक्ष्म पदार्थ को किसी भी जीवात्मा को दे सके। ऐसा साधक अगर जीवात्मा को भोजन देने का कार्य करे, तब उस जीवात्मा को सूक्ष्म भोजन व पानी प्राप्त हो जाएगा और जीवात्मा की भूख-प्यास शान्त हो जाएगी। ऐसे प्रयोगकर्ता साधक का ब्रह्मरन्ध्र खुला होना चाहिये, तभी इस प्रकार के कार्यों के योग्य समझा जाएगा, क्योंकि उसे दिव्य-दृष्टि के द्वारा यह भी देखना होता है कि जीवात्मा को भोजन प्राप्त हुआ अथवा नहीं हुआ है।

अब कोई भी यह कह सकता है कि इन जीवात्माओं को भूख और प्यास क्यों लगती है, अब तो वह मर चुके हैं! इसका उत्तर है – जब मनुष्य की मृत्यु होने लगती है, उस समय उसके शरीर के अन्दर प्राणों का खिंचाव होता है, फिर कुछ समय बाद फैलाव होने लगता है। इस खिंचाव और फैलाव के समय भूख की अनुभूति होने लगती है, क्योंकि भूख की अनुभूति का कार्य प्राणों द्वारा ही सम्पन्न होता है। फिर मृत्यु हो जाने के बाद जब वासना देह की प्राप्ति होती है, तब भूख और प्यास के कारण जीवात्मा भटकती रहती है। संसारी मनुष्य इस बात को सही ढंग से समझ नहीं पाता है, क्योंकि उसे सूक्ष्म जगत के विषय में किसी प्रकार का ज्ञान अथवा अनुभूति नहीं होती है।

जब साधक योग का अभ्यास करता है और उसका कण्ठचक्र खुलने वाला होता है, तभी से भूख-प्यास से युक्त दुःखी जीवात्माएँ साधक से सम्पर्क करने की कोशिश करने लगती हैं। सम्पर्क हो जाने पर भोजन देने की साधक से याचना करती हैं। यदि साधक ने किसी जीवात्मा को भोजन दे दिया, फिर उसके पास ढेरों जीवात्माएँ आने लगती हैं। इस प्रकार साधक के अभ्यास में अवरोध आने लगता है। इससे अच्छा है कि ऐसी जीवात्माओं को समझाकर वापस कर देना चाहिये। अगर ऐसा नहीं किया तो अभ्यास में ठहराव आने लगता है।

सभी जीवात्माएँ प्राणों के सहारे जिन्दा रहती हैं, इसीलिए सभी जीवधारियों को प्राणी कहा जाता है। अपरा-प्रकृति के सम्पूर्ण प्राणियों को भूख अवश्य लगती है। कुछ प्राणी प्रतिदिन भोजन करते रहते हैं और मल का त्याग करते रहते हैं, जैसे – पशु-पक्षी, जलीय और रेंगने वाले प्राणी। मनुष्य भी अपना सम्पूर्ण जीवन यही कार्य करता रहता है। ऊर्ध्व लोकों की जीवात्माएँ काफी दिनों बाद भूख की अनुभूति करती हैं। इसीलिए शास्त्रों में पिण्ड दान देने का विधान बताया हुआ है, ताकि पूर्वजों को उनके वंशज इस प्रकार भोजन आदि उचित या निश्चित समय पर देते रहे। पूर्वकाल के ब्राह्मण बहुत ही शक्तिशाली हुआ करते थे, क्योंकि उनका सम्पूर्ण जीवन तपस्या में तथा समाधि का अभ्यास करने में व्यतीत होता था। ऐसे तपस्वियों तथा ब्राह्मणों के द्वारा इस प्रकार के कार्य संकल्प मात्र से हो जाते थे।

ऊर्ध्व लोकों में स्थित श्रेष्ठ जीवात्माओं को भी एक निश्चित समय में भूख और प्यास अवश्य लगती रहती है, चाहे ऐसी जीवात्माएँ स्वर्ग लोक से लेकर ब्रह्मलोक की क्यों न हों। महर्लोक, जनलोक, तपलोक, और ब्रह्मलोक तक की जीवात्माएँ कभी न कभी भूख की अनुभूति करती हैं। तब ये जीवात्माएँ अपना ही योगबल खाया करती हैं। अर्थात् जब किसी योगी अथवा भक्त को भूख लगती है, तब अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा अपनी इच्छानुसार पदार्थ को प्रकट कर लेता है। प्रकट हुआ पदार्थ उन्हीं का योगबल होता है, क्योंकि योगबल के द्वारा वह पदार्थ प्राप्त होता है अर्थात् योगबल का ही रूपान्तर वह पदार्थ है। मगर इन योगियों को

मनुष्य के समान जल्दी-जल्दी भूख नहीं लगती है। बल्कि कई वर्षों के पश्चात एक बार भूख लगती है, फिर अपने ही योगबल द्वारा प्रकट की हुई वस्तु को खाकर तृप्त हो जाते हैं।

सन् 1995 में एक बार एक साधक ने ध्यान के माध्यम से स्वामी शिवानन्द जी से पूछा- "स्वामी जी, क्या आपको भूख-प्यास नहीं लगती है, अगर लगती है तो आपको भोजन कहाँ से प्राप्त होता है?"। स्वामी जी ने मुस्कराते हुए कहा – "हाँ, हम सभी योगियों को भूख और प्यास लगती है, मगर बहुत समय बाद इसकी अनुभूति होती है। जब भूख लगती है उस समय समाधि भंग हो जाती है। फिर योगी अपनी इच्छानुसार पदार्थों को प्रकट करके खा लेता है और तृप्त हो जाता है।" साधक ने फिर पूछा – "स्वामी जी! आप किस प्रकार से पदार्थों को प्रकट करते हैं, मैं भी देखना चाहता हूँ।" स्वामी जी बोले – "मैं अभी इसे प्रकट करता हूँ", इतना कहते ही उनके हाथ में सेब आ गया। उन्होंने सेब दिखाते हुए कहा – "यह सेब देख रहे हो"। साधक बोला – "जी, स्वामीजी"। स्वामी जी बोले – "मेरा ही योगबल सेब के रूप में प्रकट हुआ है; अब समझ गये, योगी जन अपना ही योगबल खाया करते हैं"। स्वामी जी ने बड़ी सरलता से उस साधक को ऐसे समझाया था।

ये स्वामी जी वर्तमान समय में तपलोक में रहते है। इनका आश्रम ऋषिकेश में 'स्वामी शिवानन्द आश्रम' के नाम से है। ये स्वामी जी ही एक कम उम्र के साधक को समझा रहे थे। इन्होंने सन् 1963 में समाधि ले ली थी, ये हमारे दादा गुरु भी हैं, मेरी गुरुमाता इन्हीं स्वामी जी की शिष्या हैं। इन स्वामी जी ने मुझे और त्रिकाल को बहुत ही आध्यात्मिक मार्गदर्शन किया है, वर्तमान समय में मेरी कुटिया इन्हीं के मार्गदर्शन से बनाई गयी थी।

12. वायु तत्त्व के सहयोग से जन्म ग्रहण करना

विभिन्न लोकों से जीवात्माएँ जब जन्म ग्रहण करने के लिए भूलोक पर आती हैं, उस समय सर्वत्र व्याप्त वायु तत्त्व ही इस कार्य में सहयोग करता है अर्थात् प्राणवायु के सहारे प्राप्त हुई गति करते हुए भूलोक पर जन्म ग्रहण करने के लिए आ जाती हैं। जन्म कहाँ ग्रहण करना है, यह उन्हें कर्मानुसार स्वयं ज्ञात हो जाता है अथवा जीवात्मा स्वयं प्रकृति से प्रेरित होकर अपनी होने वाली माँ के पास आकर खड़ी हो जाती है अथवा शरीर के चारों ओर गति करने लगती है। फिर वह जीवात्मा माँ से आज्ञा माँगती है कि वह उसके गर्भ से जन्म ग्रहण करना चाहती है। माँ उस जीवात्मा को अपने गर्भ में जन्म ग्रहण करने की आज्ञा दे देती है। फिर वह जीवात्मा माँ के शरीर के आसपास ही विद्यमान रहती है, क्योंकि उस समय माँ के गर्भ में उस जीवात्मा के लिए शरीर का उचित निर्माण नहीं हुआ होता है। माँ और जीवात्मा का वार्तालाप उस समय दोनों के सूक्ष्म शरीरों द्वारा होते हैं। यदि माँ उच्चकोटि की साधिका हो, तो अवश्य ही उसे ज्ञात रहेगा कि अमुक जीवात्मा ने उससे बात की है उसके गर्भ से जन्म ग्रहण करने के लिए। ज्यादातर संसारी स्त्रियाँ साधिकाएँ नहीं होती हैं, इसलिए ये बातें उन्हें ज्ञात नहीं रहती हैं।

ऊपर के लोक से आयी जीवात्माओं को ज्ञात हो जाता है कि उन्हें भूलोक पर किस स्त्री के गर्भ से जन्म लेना है। ऐसी जीवात्माएँ सत्वगुणी स्वभाव वाली होती हैं। कुछ जीवात्माएँ, जो ऊपर के लोक में स्थित रहती है, उन्हें ज्ञात नहीं होता है कि भूलोक पर जन्म कहाँ पर ग्रहण करना है। वे कर्मवश स्वयं वहाँ से गति करके अपनी माँ के पास आ जाती हैं, ऐसा प्रकृति की व्यवस्था के अन्तर्गत होता है। जीवात्मा वहीं जन्म ग्रहण करती है, जिस स्त्री-पुरुष (माता-पिता) से उनके कर्म कुछ प्रतिशत मेल खाते हैं अर्थात् समान (सजातीय) रूप वाले होते हैं। अपने विरोधी कर्म वाले के यहाँ जन्म ग्रहण नहीं करती हैं, ऐसा प्रकृति का नियम है। मगर कुछ विशेष कारणों से जीवात्मा अपने विजातीय कर्मों वाले माता-पिता के यहाँ जन्म ग्रहण करती हैं। ऐसी अवस्था में उनके माता-पिता अथवा उनकी सन्तान को विशेष कर्म भोगने होते हैं। यही कारण है कि कभी-कभी देखा जाता है पुत्र द्वारा माता-पिता को घोर कष्ट प्राप्त होता है अथवा कभी-

कभी पुत्र को माता-पिता द्वारा कष्टों की प्राप्ति होती है। ऐसी अवस्था चित्त पर स्थित कर्माशयों के कारण आती हैं।

लगभग पाँच माह के शरीर निर्माण के समय तक जीवात्मा माँ के शरीर के आसपास विद्यमान रहने के बाद ही गर्भ के अन्दर अपने शरीर में प्रवेश करती हैं। अभी उसके शरीर के अंगों का विकास पूर्णरूप से नहीं हुआ होता है, इसलिए जीवात्मा शांत सी अथवा सुषुप्त सी रहती है। मगर शरीर में प्राणों के कारण हलचल होने लगती है। गर्भावस्था में माँ के शरीर द्वारा जीवात्मा के शरीर का पोषण होता है तथा प्राणवायु के सहारे जीवित रहता है। अगर जीवात्मा पुण्य कर्मों से युक्त है तो सत्वगुणी वृत्तियों के द्वारा गर्भ के बाहरी संसार की अनुभूति करती है या प्रभावित होती है। अगर माँ उच्चकोटि की साधिका है तो गर्भ में पल रहे बच्चे को विशेष रूप से शिक्षित कर सकती है, अर्थात् संकल्प के द्वारा मंत्र आदि का प्रभाव उस पर डाल सकती है। इस क्रिया से वह सन्तान भविष्य में मंत्र जाप करने में रुचि लेने लगेगी।

बच्चे के जन्म के समय माँ के शरीर के अन्दर अपान वायु का प्रभाव बहुत ज्यादा बढ़ जाता है। इस अपान वायु के अधिक क्रियाशील होने के कारण ही बच्चे का जन्म होना सम्भव हो पाता है। तेजस्वी जीवात्मा को गर्भावस्था में अपने पिछले जन्म के विषय में हल्का-सा ज्ञान रहता है। मगर जन्म के समय प्राणवायु के अत्यधिक दबाव के कारण वह अपने पिछले जन्म की घटनाओं को भूल जाता है, फिर उसे पिछले जन्म के विषय में ज्ञात नहीं रहता है। जन्म के समय बच्चे को निश्चय ही प्राणों के दबाव के कारण असहनीय कष्ट होता है। इस प्रकार का अत्यन्त घोर कष्ट जीवात्मा को पूरे जन्म में फिर कभी नहीं प्राप्त होता है।

जिन जीवात्माओं का जन्म भुवर्लोक से आकर होता है, इन जीवात्माओं को भुवर्लोक से नीचे की ओर गति (पतन होना) करते समय अपना होश नहीं रहता है, अर्थात् मूर्छा जैसी अवस्था हो जाती है। ऐसा चित्त पर स्थित तमोगुणी कर्मों की अधिकता के कारण होता है। इन प्रकार की जीवात्माओं को पशु-पक्षी, जलीय और रेंगने वाले शरीर में जन्म ग्रहण करना पड़ता है। ऐसी जीवात्माओं के शरीर का निर्माण विभिन्न प्रकार से होता है। पेड़-पौधे भी जीवधारी

होते हैं। इनके अन्दर व्याप्त सूक्ष्म शरीर पूर्ण रूप से निद्रा जैसी अवस्था में रहता है। कुछ पेड़ों की उम्र बहुत ही ज्यादा होती है, ऐसी जीवात्मा को इस शरीर (पेड़) में ही भूलोक पर बहुत अधिक समय तक रहना पड़ता है। पेड़-पौधों में पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता होती है।

13. वायु तत्त्व की प्रधानता से कुछ देवताओं की उत्पत्ति

मैंने कई जगहों पर लिखा है कि मनुष्य, पशु-पक्षी, जलीय प्राणी और रेंगने वाले प्राणी आदि जल तत्त्व की प्रधानता से जन्म ग्रहण करते हैं अर्थात् इनके शरीर में जल तत्त्व की प्रधानता रहती है। पेड़-पौधे पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता से युक्त रहते हैं। भूलोक पर पाँच प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं। उनमें जल तत्त्व की अधिकता रहती है। अग्नि तत्त्व की प्रधानता से देवताओं आदि प्राणियों की उत्पत्ति हुई है। ये देवता स्वर्ग से सम्बन्धित है। जैसे– इन्द्रदेव, अग्निदेव, वरूणदेव, अश्वनीकुमार आदि। यहाँ पर रहने वाले अन्य प्राणी व अप्सराएँ भी अग्नि तत्त्व से उत्पन्न होते हैं। ये सभी मनुष्य जाति से श्रेष्ठ होते हैं। अग्नि तत्त्व की प्रधानता से उत्पन्न प्राणी तेजस्वी भी होते हैं, क्योंकि अग्नि तत्त्व का स्वभाव भी ऊर्जावान है तथा दाहिका शक्ति होती है। ऐसे प्राणियों में मनुष्य जाति को वरदान देने का सामर्थ्य होता है।

वायु तत्त्व की प्रधानता से कुछ ही दिव्य शक्तियाँ उत्पन्न हुई हैं, इसलिए इनकी संख्या अग्नि तत्त्व से उत्पन्न प्राणियों से बहुत ही कम है। वायु तत्त्व शक्ति का स्वरूप होता है, इसीलिए ऐसे प्राणी विशेष रूप से शक्तिशाली होते हैं। वायु तत्त्व की प्रधानता से उत्पन्न हुई कुछ शक्तियों के नाम इस प्रकार हैं – श्री गणेश जी, श्री कार्तिकेय जी, श्री हनुमान जी, श्री पवनदेव जी आदि। श्री गणेश जी की उत्पत्ति माता पार्वती जी की संकल्पशक्ति द्वारा हुई है तथा वे सभी देवताओं

के पूज्यनीय (जो अग्नि तत्त्व से उत्पन्न है) भी हैं। इसीलिए किसी भी शुभकार्य में सबसे पहले गणेश जी की पूजा की जाती है। माता पार्वती स्वयं आदिशक्ति का अंश हैं। श्री गणेश जी इसीलिए अत्यन्त शक्तिशाली हैं। वायु तत्त्व के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि की रचना होती है, इसीलिए इनकी व्यापकता सम्पूर्ण वायु तत्त्व में रहती है। बल में इनकी बराबरी कोई भी देवता नहीं कर सकता है। प्रत्येक प्राणी के मूलाधार चक्र में वे विराजमान रहते हैं क्योंकि श्री गणेश जी मूलाधार चक्र के देवता माने गये हैं। ये सृष्टि के मूल में विराजमान रहते हैं। इसीलिए साधकों को अभ्यास करते समय मूलाधार चक्र विकसित होने पर श्री गणेश जी के दर्शन होते हैं। मेरे द्वारा लिखी हुई पुस्तक तत्त्वज्ञान में पढ़ेंगे – जब मैं ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा वायु तत्त्व का साक्षात्कार कर रहा था, उस समय मुझे श्री गणेश जी अन्त तक वायु तत्त्व के अन्दर खड़े हुए दिखाई देते रहे।

श्री कार्तिकेय जी की उत्पत्ति वायु तत्त्व की प्रधानता से हुई है, इसीलिए वह निश्चय ही बहुत बलवान है। इन्हें देवताओं का सेनापति बनाया गया था। मुझे अपने साधना काल में कई बार इनके दर्शन हुए, मगर मैंने अपनी पुस्तकों में इनके विषय में कही भी उल्लेख नहीं किया है। मेरा इनसे सम्पर्क ज्यादा नहीं रहा है। श्री हनुमान जी के विषय में समाज के लोग अच्छी तरह से जानते हैं। इनकी उत्पत्ति वायु तत्त्व की प्रधानता से हुई है। इनका प्राकट्य ग्यारहवें रुद्र (शंकर) के शरीर से हुआ है, इसलिए इन्हें रुद्रावतार भी कहा गया है। इन्होंने माता अञ्जनी देवी के गर्भ से जन्म ग्रहण किया है। सभी जानते है कि इन्होंने हम सभी को सेवा और भक्ति की शिक्षा दी है। व्यक्तिगत रूप से मेरा और हनुमान जी बहुत साथ रहा है। मैं इस विषय में स्पष्ट लिखना उचित नहीं समझता हूँ। इन्होंने मुझे अत्यन्त गूढ़ विषयों पर मार्गदर्शन किया है, इसलिए मैं इन्हें अपना गुरु मानता हूँ। ये हमारे शुभ-चिन्तक के रूप में रहे है। तत्त्वज्ञान प्राप्त करते समय इनके वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार भी किया था।

वायु देवता वायु तत्त्व के स्वामी है मगर ये अपने स्वामी इन्द्रदेव के आदेशानुसार कार्य करते हैं, ऐसा प्रकृति की व्यवस्थानुसार है। तत्त्वज्ञान प्राप्त करते समय मुझे इनके स्वरूप का

साक्षात्कार हुआ था। द्वापर युग के अन्त में वायु देवता के आशीर्वाद से कुन्ती पुत्र भीम का जन्म हुआ था। भीम मनुष्य शरीर में होते हुए भी अत्यन्त शक्तिशाली थे, इसका कारण वायु देवता का आशीर्वाद ही था। वायु तत्त्व की अधिकता का प्रभाव इनके शरीर पर बना रहता था।

आकाश तत्त्व की प्रधानता से तीन ही देवता उत्पन्न हुए हैं, इसीलिए ये तीनों देवता इस सृष्टि के नायक है तथा सम्पूर्ण सृष्टि (अपरा-प्रकृति) की व्यवस्था बनाये रखते हैं। ये देवता भगवान ब्रह्मा जी, भगवान विष्णु जी और भगवान शंकर जी हैं। इनकी उत्पत्ति परा-प्रकृति से सम्बन्धित है। नारायण (ईश्वर) के द्वारा भगवान ब्रह्माजी और भगवान विष्णु जी का प्राकट्य हुआ है। परम शिव (ईश्वर) से भगवान शंकर जी का प्राकट्य हुआ है।

14. वृत्तियों के स्वरूप में वायु तत्त्व की प्रधानता

मनुष्य जब किसी भी प्रकार का कर्म करता है, उस कर्म के कर्माशय चित्त की भूमि पर स्थित होते रहते हैं। ये कर्माशय उचित समय में बाहर की ओर तेजस रूप में निकलते रहते हैं। मनुष्य फिर उन्हीं कर्मों को भोगने में लग जाता है। कर्म भोगते समय फिर नये कर्म बन जाते हैं। यही क्रम सदैव चलता रहता है अर्थात् पूर्वकाल के कर्मों को भोगता रहता है। अज्ञानतावश मनुष्य जब इन कर्मों को भोगता है तब फिर से यही भोगे हुए कर्म, कर्माशय बन कर चित्त में एकत्र होते रहते हैं। मनुष्य जब जन्म ग्रहण करता है, तब उसके चित्त पर पिछले जन्मों के कर्माशय (संस्कार) विद्यमान रहते हैं। ये कर्माशय (संस्कार) दो प्रकार के रहते हैं – **1.** संचित रूप में, **2.** प्रारब्ध रूप में। संचित कर्माशय इस जन्म में नहीं भोगे जाते हैं, अगले जन्मों में भोगे जाते हैं। प्रारब्ध कर्माशय (संस्कार) इसी जन्म में भोगे जाते हैं। ये प्रारब्ध कर्माशय प्रधान रूप से

चित्त की भूमि के ऊपरी सतह पर स्थित रहते हैं। यह कर्माशय वृत्ताकार रूप में विद्यमान रहने के कारण इनको वृत्तियाँ भी कहते हैं। तीसरे प्रकार में कर्माशय क्रियमाण कर्म कहे जाते हैं। वर्तमान समय में किये गये कर्मों को क्रियमाण कर्म कहते हैं। क्रियमाण कर्मों के कर्माशय संचित कर्माशयों में तथा प्रारब्ध कर्माशयों में मिल जाते हैं। यह प्रकृति की व्यवस्थानुसार निश्चित होता है कि कौनसा क्रियमाण कर्म संचित कर्मों में मिलना है और कौनसा क्रियमाण कर्म प्रारब्ध कर्मों में मिलना है। जो कर्म प्रारब्ध कर्मों में मिल जाते हैं, वे इसी जन्म में भोग लिए जाते हैं और जो संचित कर्मों में मिल जाते हैं, वे अगले जन्मों में भोगे जाते हैं।

सम्पूर्ण कर्माशय (प्रारब्ध और संचित) वायु तत्त्व की प्रधानता से युक्त होकर चित्त की भूमि पर स्थित रहते हैं। अर्थात् इन संस्कारों के स्वरूप वायु तत्त्व की प्रधानता से युक्त रहते हैं। इसीलिए ये अत्यन्त सूक्ष्म और व्यापक होते हैं। चित्त की भूमि का निर्माण वायु तत्त्व की प्रधानता से ही होता है। वायु तत्त्व का स्वभाव कम्पन करना होता है। इसलिए चित्त की भूमि पर सदैव कम्पन (स्पन्दन) होने के कारण ऊपरी सतह पर स्थित वृत्तियाँ (संस्कार) बाहर की ओर निकलने लगती है। जब आँखों के द्वारा ये वृत्तियाँ बाहर की ओर निकलती हैं, तब इन वृत्तियों का स्वरूप तेजस रूप में होता है। तेजस रूप में अग्नि तत्त्व प्रधान रूप से रहता है। चित्त की भूमि पर वायु तत्त्व की प्रधानता विद्यमान थी, मगर वृत्तियाँ बहिर्मुख होने पर अग्नि तत्त्व की प्रधानता वाली हो जाती हैं। फिर आँखों द्वारा वृत्तियाँ निकलकर चारों ओर फैलकर पदार्थों का स्वरूप धारण कर लेती हैं।

चित्त पर सम्पूर्ण व्यापार वायु तत्त्व के द्वारा ही चल रहा होता है। इसी कारण अभ्यासी द्वारा प्राणायाम किये जाने पर चित्त की भूमि पर स्थित वृत्तियाँ (कर्माशय) प्रभावित होने लगती हैं। प्राणायाम जितना ज्यादा समय तक किया जाएगा, उतने ही ज्यादा समय तक चित्त प्रभावित बना रहेगा। प्राण के रोक देने पर बाहर निकलने वाली वृत्तियाँ भी रुकने लगती हैं तथा वृत्तियों पर स्थित तमोगुण जलने लगता है। इसी तमोगुण के कारण चित्त में मलिनता आती है। अधर्म और पाप से युक्त कर्म करने पर कर्माशय तमोगुण से प्रभावित रहते हैं। जब इस प्रकार की

वृत्तियाँ बाहर निकलती हैं, तब मनुष्य अधर्म से युक्त कर्म करने लगता है। फिर ऐसे कर्मों का भोग क्लेश (दुःख) ही होता है। वह विभिन्न प्रकार के दुःखों को भोगता रहता है। मगर प्राणायाम से इस प्रकार की मलिनता स्वच्छ होती रहती है। फिर ऐसी वृत्तियों का तमोगुण कम होने पर भोग करते समय तमोगुण ज्यादा प्रभावित नहीं करता है।

कर्माशय अथवा संस्कार पर्यायवाची जैसे शब्द हैं, ये संस्कार चित्त की भूमि पर वृत्ताकार रूप में स्थित होने के कारण इन्हें वृत्ति भी कहते हैं। चित्त में स्पन्दन होने के कारण ये वृत्तियाँ बहिर्मुखी होकर बाहर की ओर निकलने लगती हैं, तब ये वृत्तियाँ आँखों के द्वारा तेजस् (प्रकाश) रूप में बाहर निकलती हैं।

15. कुण्डलिनी-शक्ति का स्वरूप वायु तत्त्व के रूप में

साधक अभ्यास के द्वारा जब आन्तरिक विकास करने लगता है तथा प्राणवायु भी ऊर्ध्वगमन करने लगती है, तब उचित समय आने पर मूलाधार चक्र में विराजमान कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होने लगती है। इस मार्ग में आगे की ओर बढ़ने के लिए अनुभवी गुरु का होना अति आवश्यक है, बिना गुरु के इस मार्ग में आगे की ओर बढ़ा नहीं जा सकता है। मनुष्य के सूक्ष्म शरीर में जब कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होकर ऊर्ध्व होने लगती है, तब उसकी अनुभूति अभ्यासी को स्थूल शरीर में होती है। उसे ऐसा लगता है मानो स्थूल शरीर में कुण्डलिनी-शक्ति ऊर्ध्व हो रही है। कुण्डलिनी-शक्ति अग्नि तत्त्व की प्रधानता से युक्त हुई प्राणियों के शरीर में विद्यमान रहती है। उसका स्वरूप अग्नि तत्त्व की प्रधानता के कारण अभ्यासी को ऐसी अनुभूति होती है मानो आग जैसी गर्म-गर्म कोई वस्तु ऊपर की ओर रीढ़ के सहारे चढ़ रही है।

उसका स्वभाव होता है कि वह जाग्रत होते ही पृथ्वी तत्त्व और जल तत्त्व को खाने लगती है अथवा कभी-कभी जलाने लगती है और उस स्थान पर अग्नि तत्त्व को बिखेरने लगती है। इससे साधक के शरीर में शुद्धता आती है और आगे का मार्ग प्रशस्त होता है।

कुण्डलिनी-शक्ति मूलाधार चक्र से ऊर्ध्व होकर अभ्यासानुसार ऊपर के चक्र खोलती हुई ब्रह्मरन्ध्र द्वार तक पहुँचती है, फिर ब्रह्मरन्ध्र द्वार को खोल कर कुछ समय तक इसी स्थान पर स्थित रहती है। कुछ समय तक अभ्यास करने के बाद कुण्डलिनी-शक्ति ब्रह्मरन्ध्र द्वार से उलटकर आज्ञा चक्र पर आकर नीचे की ओर नया रास्ता बनाती हुई हृदय (अनाहत चक्र) में आ जाती है, इसी प्रकार का अभ्यास चलता रहता है। कई वर्षों तक अभ्यास करने पर कुण्डलिनी-शक्ति अपनी गति का त्याग कर स्थिर हो जाती है। कुण्डलिनी स्थिर होने पर साधक के शरीर में वायु तत्त्व के रूप में व्याप्त हो जाती है, क्योंकि अभ्यासी ने अग्नि तत्त्व का विकास कर लिया होता है। फिर वह अपने अभ्यास के द्वारा वायु तत्त्व का विकास करने लगता है। जब कुण्डलिनी वायु तत्त्व के रूप में परिवर्तित हो जाती है तब अभ्यासी को कुण्डलिनी-शक्ति का दर्शन होना बंद हो जाता है। तब वह अन्य अभ्यासी पर भी शक्तिपात करने के योग्य हो जाता है। इसे कुण्डलिनी की पूर्ण यात्रा कहते हैं।

अभ्यासी जब कई जन्मों तक इसी प्रकार से साधना करता रहता है, तब अन्तिम जन्म में उसे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है, तब भी इस प्रकार की क्रिया होती है। ऋतम्भरा के प्राकट्य हो जाने पर फिर कई वर्षों तक अभ्यास के बाद कुण्डलिनी-शक्ति सुषुम्ना नाड़ी के ऊपरी सिरे तक चढ़ी हुई दिखाई देती है। फिर वह कर्माशयों के बीज रूप को नष्ट करती हुई दिखाई देती है। अन्त में जीव के साथ सहस्त्रदल कमल के ऊपर संगिनी के रूप में बगल में (बायीं ओर) बैठी हुई दिखाई देती है। जब उस जीव का जीवत्व पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है, तब ऐसा दृश्य दिखाई देता है।

आप सभी को एक जरूरी बात बता दूँ – कुण्डलिनी-शक्ति के विषय में मैंने यहाँ पर मात्र कुछ शब्दों में पूर्णता के विषय में लिख दिया है। मगर अभ्यासी को इस योग्यता को प्राप्त करने

के लिए ढेरों जन्मों तक कठोर अभ्यास करना पड़ता है। इस अभ्यास के समय हर जन्म में समाज के द्वारा ढेर सारे कष्टों, परेशानियों और अवरोधों को उपस्थित कर दिया जाता है। ऐसा हर अभ्यासी के साथ होता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि उस समय साधक अपने चित्त को अभ्यास के द्वारा स्वच्छ कर रहा होता है। इससे साधक के अन्दर वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। साधक को आखिरी जन्म में ढेर सारे क्लेशात्मक कर्माशय भोगने पड़ते है। इन क्लेशों को भोगते समय साधक को संसार, घर-परिवार व परिचितों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होने लगता है, इससे पर-वैराग्य प्रकट होने लगता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त करते समय व क्लेशात्मक कर्म भोगते समय चित्त पर स्थित अज्ञानता नष्ट होने लगती है व ज्ञान का प्रकाश फैलने लगता है। ऐसा तभी होता है जब वायु तत्त्व का विकास-क्रम अपनी आखिरी सीमाओं को छू रहा होता है। जब वायु तत्त्व का सम्पूर्ण विकास कर लेता है, तब अभ्यासी विज्ञानमय कोश से परे हो जाता है तथा तत्त्वज्ञान भी प्राप्त हो चुका होता है।

16. प्राण तत्त्व और शक्तिपात

गुरु अपने शिष्य पर उचित समय पर शक्तिपात करते हैं, ऐसा सभी ने देखा होगा अथवा सुना होगा। ऐसा तब किया जाता है जब गुरु शिष्य को दीक्षा देता है, अथवा मार्गदर्शन करते समय गुरु को ऐसा लगता है कि उसे शिष्य पर शक्तिपात करने की आवश्यकता है, तब वह शक्तिपात कर शिष्य का मार्ग प्रशस्त कर देता है। शक्तिपात के रूप में चैतन्यमय शक्ति शिष्य के शरीर की सूक्ष्म कोशिकाओं में धीरे-धीरे व्याप्त हो जाती है, फिर साधक का मार्ग प्रशस्त करती रहती है। ऐसा कार्य सिर्फ वही गुरु कर सकते हैं, जिन्होंने कठोर अभ्यास करके उच्चावस्था प्राप्त कर ली है तथा योगबल एकत्र कर लिया है। यही योगबल गुरु अपने शिष्य के शरीर में प्रवेश कराता है। शुद्ध प्राण तत्त्व का रूपान्तर ही तेज के रूप में हाथों व पैरों की उँगलियों के अग्र भाग

से सदैव बाहर की ओर निकलता रहता है। इसे रोका नहीं जा सकता है। यह प्राकृतिक क्रिया स्वमेव होती रहती है, इसीलिए हाथों की उँगलियों से शक्तिपात किया जाता है।

जिसका प्राण तत्त्व जितना ज्यादा मात्रा में शुद्धता को प्राप्त होगा, उतना ही ज्यादा शक्तिपात किया जा सकता है। जिसके प्राण तत्त्व में अशुद्धता होती है, वह शक्तिपात नहीं कर सकता है। शक्तिपात का नियम होता है – अपने शुद्ध प्राण तत्त्व को दूसरे के शरीर में प्रवाहित कर देना। अशुद्ध प्राण तत्त्व दूसरे के शरीर में प्रवाहित नहीं किया जा सकता है और न ही अशुद्ध प्राण तत्त्व के द्वारा इच्छानुसार कार्य लिया जा सकता है। शुद्ध प्राण तत्त्व उसके शरीर में ज्यादा पाया जाता है, जो प्राणायाम करते हैं, भक्ति के मार्ग पर चल रहे हैं, समाधि का अभ्यास कर रहे हैं अथवा अन्य किसी सात्विक प्रकार के योग का अभ्यास कर रहे हैं आदि। इस प्रकार के अभ्यास द्वारा मन और चित्त में निर्मलता बढ़ती है। इससे चित्त पर सत्वगुण की मात्रा बढ़ती है तथा तमोगुण की मात्रा धीरे-धीरे अभ्यासानुसार घटती है। जिसका चित्त जितना निर्मल होगा, उसका प्राण तत्त्व भी उतना निर्मल होगा।

समाधि का अभ्यास करके जिसने उच्चावस्था प्राप्त कर ली है, उसका प्राण तत्त्व भी उतना ही ज्यादा निर्मल होगा; इस कारण चित्त पर स्थित वृत्तियों में शुद्धता होती है। इसीलिए ऐसे अभ्यासी की संकल्प शक्ति भी बहुत ज्यादा होती है। मंत्र जाप के द्वारा भी चित्त में निर्मलता आती है तथा योगबल भी बढ़ता है। चित्त की निर्मलता के आधार पर ही आन्तरिक विकास होता है। अभ्यासी का जितना ज्यादा आन्तरिक विकास होगा, उसके अन्दर उतनी ही ज्यादा व्यापकता बढ़ती है। व्यापकता का अर्थ हुआ कि उसके चित्त पर तमोगुण की मात्रा कम हो रही है। तमोगुण जैसे-जैसे अभ्यासानुसार कम होगा, वैसे-वैसे सत्वगुण की मात्रा बढ़ती जाएगी। जितनी ज्यादा सत्वगुण की मात्रा बढ़ेगी उतना ही ज्यादा प्राण तत्त्व शुद्ध होगा।

प्राण तत्त्व शुद्ध करने के लिए सात्विक भोजन, उपवास, दान, सेवा, भक्ति, कठोर प्राणायाम, मंत्र जाप, त्राटक और सत्य निष्ठा आदि बहुत ज्यादा सहायक है। इन सभी नियमों का पालन करने से साधक का शीघ्र ही आगे का मार्ग प्रशस्त होता है तथा योग में उच्चावस्था

प्राप्त होने लगती है। प्राणों की शुद्धता का पैमाना जितना ज्यादा होता है, वह अभ्यासी उतना ही ज्यादा शक्तिशाली होता है। जब ऐसा योगी अपने शिष्य पर शक्तिपात करता है, तब उसके संकल्पानुसार शिष्य के शरीर पर कार्य होना शुरू हो जाता है, क्योंकि उसके संकल्प में उतनी ही ज्यादा शुद्धता होती है। संकल्प बल से ही इस सृष्टि की रचना हुई है। इसलिए संकल्प बल के अनुसार वर्तमान समय में कार्य होने लगते हैं।

संकल्प शक्ति में इतना बल होता है कि किसी भी साधक के अभ्यास में सहायता की जा सकती है। संकल्प के द्वारा साधक के चक्र स्वच्छ करके शीघ्र ही विकसित करके कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत व ऊर्ध्व किया जा सकता है। उसे शीघ्र ही आगे का मार्ग तय कराया जा सकता है तथा शीघ्र ही सविकल्प समाधि की अवस्था में पहुँचाया जा सकता है। इस प्रकार के उदाहरण पूर्वकाल में बहुत से मिलते हैं। जरूरत पड़ने पर मैं भी अपने साधकों के साथ ऐसा ही करता हूँ। मगर ऐसी अवस्था में साधक के कर्म खुद गुरु को ग्रहण करने पड़ते है। उदाहरण – किसी एक साधक की कुण्डलिनी एक वर्ष बाद ऊर्ध्व होनी है, इसके लिए साधक को एक वर्ष तक कठोर अभ्यास करना पड़ेगा। मार्गदर्शक (गुरु) उसकी कुण्डलिनी तुरन्त ऊर्ध्व कर देता है, तब मार्गदर्शक को साधक का एक वर्ष का कर्म ग्रहण करना पड़ता है, क्योंकि एक वर्ष तक कठोर अभ्यास का कर्म करना है वह कर्म कौन करेगा!

ऐसा कार्य तभी होता है, जब मार्गदर्शक अत्यन्त शक्तिशाली होता है तथा हर कार्य को बारीकी से समझता है। अगर ऐसा नहीं है तो इस प्रकार के कार्य नहीं हो सकते हैं। सिर्फ भ्रम में ही बने रहेंगे कि इस प्रकार का कार्य हो गया है। वर्तमान में ज्यादातर ऐसा ही होता है। ज्यादातर मार्गदर्शक धोखा ही देते रहते हैं तथा साधक भी भ्रम में रहते हैं। इसीलिए आजकल योग का हाल बुरा है और योग्य गुरु या मार्गदर्शक नहीं मिलते हैं। बहुत से लोग पागलों की भाँति इधर-उधर खोजते हुए घूमते रहते हैं कि बिना अभ्यास किये कहाँ पर अर्थात् किस गुरु के द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत हो जाए, सिद्धियाँ प्राप्त हो जाएँ, ऐसा कोई मंत्र मिल जाए जिससे रुपयों से

मालामाल हो जाएँ। ऐसे व्यक्ति सदैव ठगे ही जाते हैं क्योंकि आजकल गुरु या बाबा के वेश में बहुत मिल जाएँगे। वह समाज को ठगने के लिए ऐसा स्वरूप बनाये बैठे है।

शक्तिपात तीन प्रकार से किया जाता है: **1.** स्पर्श के द्वारा, **2.** नेत्रों के द्वारा **3.** संकल्प के द्वारा।

1. स्पर्श के द्वारा– मुख्य रूप से हाथ के अंगूठे के द्वारा साधक के आज्ञा चक्र पर स्पर्श करके शक्तिपात किया जाता है। इस प्रकार से शक्तिपात करने से संकल्प द्वारा निकाली गयी शक्ति शिष्य के शरीर में प्रवेश करा दी जाती है। यदि गुरु शक्तिपात करने में कमजोर है, तब गुरु को स्पर्श के द्वारा शक्तिपात करना चाहिये, क्योंकि गुरु द्वारा जितनी शक्ति निकाली गयी है वह पूरी तरह शिष्य के शरीर में प्रवेश कर जाती है। गुरु की शक्ति इधर-उधर नहीं बिखरती है।

2. नेत्रों द्वारा– नेत्रों के द्वारा भी शक्तिपात किया जाता है। मगर इस प्रकार से शक्तिपात करने के लिए त्राटक का अभ्यास होना अति आवश्यक है। त्राटक का अभ्यास क्रमशः बिन्दु से लेकर सूर्य तक होना चाहिये। सूर्य पर त्राटक का अभ्यास कम से कम लगातार एक घण्टे का अवश्य होना चाहिये तथा जिसकी कुण्डलिनी समाधि के अभ्यास के द्वारा पूर्ण यात्रा करके स्थिर हो गयी हो, उसे ही इस प्रकार से शक्तिपात करना ज्यादा सही रहेगा, वरना सफलता मिल पाना थोड़ा कठिन हो जाएगा। इस प्रकार से शक्तिपात सभी अभ्यासी नहीं कर पाते हैं, क्योंकि गुरु पद बैठने से पहले कठोर अभ्यास करना अति आवश्यक है। इस प्रकार से शक्तिपात करने से एक लाभ यह होता है कि गुरु अपने स्थान पर बैठा हुआ दूर से किसी भी साधक पर शक्तिपात कर सकता है। उसे साधकों के बीच में नहीं जाना पड़ता है।

3. संकल्प द्वारा– संकल्प द्वारा शक्तिपात करने के लिए गुरु को अभ्यास के द्वारा चित्त शुद्धि ज्यादा से ज्यादा कर लेनी चाहिये। चित्त जितना शुद्ध रहेगा, उसकी वृत्तियों में उतनी ही ज्यादा व्यापकता होगी। जब तक चित्त व मन शुद्ध नहीं होगा, तब तक इस प्रकार से शक्तिपात नहीं हो सकता है, क्योंकि शुद्धता के आधार पर ही संकल्प शक्ति बलवान (शक्तिवान) होती है। इस प्रकार से शक्तिपात तभी करना चाहिये, जब कुण्डलिनी पूर्ण यात्रा कर स्थिर हो चुकी हो।

इसके बाद भी कई वर्षों का कठोर अभ्यास होना चाहिये क्योंकि शक्तिपात करते समय इच्छा-शक्ति व्यापक होनी चाहिये। इस प्रकार के शक्तिपात द्वारा गुरु अपने शिष्य को पृथ्वी पर किसी भी स्थान से बैठे हुए शक्तिपात कर मार्गदर्शन कर सकता है।

शक्तिपात करते समय जो संकल्प किया जाता है, यह संकल्प वृत्तियों का ही समूह होता है। ये वृत्तियाँ वायु तत्त्व (प्राण तत्त्व) की प्रधानता से बनी होती हैं। प्राण तत्त्व की शुद्धता और अशुद्धता का सीधा प्रभाव वृत्तियों की शुद्धता (सत्वगुण) और अशुद्धता (तमोगुण) पर पड़ता है तथा मन और चित्त पर भी पड़ता है। मन स्वयं अत्यन्त सूक्ष्म वृत्ति होती है। इसलिए आध्यात्मिक मार्ग में सफलता के लिए तथा मार्गदर्शन करने के लिए प्राण तत्त्व का शुद्ध होना अति आवश्यक है। इसीलिए कहा जाता है – प्राणायाम के समान श्रेष्ठ कोई तप नहीं होता है।

17. प्राण तत्त्व द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त होना

अध्यात्म मार्ग में सफलता प्राप्त करने के लिए अभ्यासी की प्राणवायु शुद्ध होना अति आवश्यक है। प्राणवायु का शुद्धिकरण सफलता की कुञ्जी है। जब प्राणवायु शुद्ध होनी शुरू हो जाएगी, तब सफलता मिलनी शुरू हो जाएगी। इसीलिए प्रत्येक आध्यात्मिक सफलता में प्राणों की शुद्धता बहुत ही सहायक होती है। इसी प्रकार सिद्धि प्राप्त करने में भी प्राणों का संयमन करना अति आवश्यक है। प्राणों के संयमन से अन्तःकरण शुद्ध होने लगता है। इससे अभ्यासी का सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत प्रभावित होता है। मैं अपनी दूसरी पुस्तक '**योग कैसे करें**' में लिख चुका हूँ कि सिद्धियाँ व्युत्थान अवस्था से सम्बंधित है, इसलिए साधकों को इससे दूर रहना चाहिए, क्योंकि ये आध्यात्मिक मार्ग की अवरोधक हैं। इसलिए इनसे सदैव सतर्क रहना चाहिये। ये अभ्यासी को धोखा देने का कार्य करती हैं, इसलिए इनसे सदैव बचना चाहिये। बुद्धिमान साधक इन सिद्धियों से सदैव दूर रहता है। एक बात मैं स्पष्ट कर दूँ – ये सिद्धियाँ

प्रत्येक अभ्यासी को प्राप्त नहीं हो सकती हैं। ऐसा उसके चित्त पर स्थित कर्माशयों के कारण होता है।

कुछ सिद्धियाँ साधकों को अभ्यास करते समय स्वयं मिलने लगती हैं, ऐसे अभ्यासी पूर्वकाल के योगी होते हैं। जिन्होंने पूर्वकाल में योग का अभ्यास नहीं किया हुआ है, उन्हें ये सिद्धियाँ प्रयास करने के बाद भी नहीं मिल पाती हैं। सिद्धियों में भी भिन्नता होती है:-

1. योगाभ्यास के समय उचित अवस्था में स्वयं प्राप्त होने लगती है अथवा प्राप्त हो जाती है।

2. कुछ सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए विशेष प्रकार की साधना का बहुत समय तक अत्यन्त कठोरता के साथ अभ्यास करना पड़ता है। ऐसी सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए मार्गदर्शन का होना अति आवश्यक है। तभी इस प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती है, वरना प्राप्त नहीं होगी।

योगाभ्यास के समय जिन्हें सिद्धियाँ अपने आप मिल जाती हैं, ऐसे अभ्यासी पूर्व जन्मों में कठोर अभ्यास करके उच्चावस्था को प्राप्त कर चुके हैं। चित्त की भूमि की प्रथम अवस्था पर साधक को सिद्धियाँ प्राप्त नहीं होती हैं। जब साधक का अभ्यास चित्त की भूमि की दूसरी अवस्था पर चल रहा होता है, तब सिद्धियाँ उस अभ्यासी के सामने आकर प्रलोभन देना शुरू कर देती हैं। इन प्रलोभन के चक्कर में अभ्यासी को नहीं फँसना चाहिये। यदि अभ्यासी इन सिद्धियों के चक्कर में फँस गया, फिर उसकी साधना में ठहराव या पतन होना निश्चित है। ये सिद्धियाँ योगबल पर ही कार्य करती हैं। जब तक साधक का योगबल रहता है, तब तक ये सिद्धियाँ कार्य करती रहती हैं। योगबल समाप्त हो जाने पर ये सिद्धियाँ कार्य करना बन्द देती हैं, तब साधक का कमाया हुआ सब कुछ चला जाता है। ऐसी सिद्धियाँ मुझे भी अपने साधना काल में मिली थी, मैंने भी उत्सुकता वश इन सिद्धियों से कार्य लिया था। फिर श्री माताजी (गुरुमाता) के कहने पर मैं इन सिद्धियों से धीरे-धीरे दूर होता चला गया। ये सिद्धियाँ कण्ठचक्र खुलने से लेकर ब्रह्मरन्ध्र द्वार खुलने तक प्राप्त होती हैं अथवा होने लगती हैं। जैसे-जैसे साधक का अभ्यास बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे इन सिद्धियों की कार्य करने की क्षमता भी बढ़ने लगती है। इससे स्पष्ट होता है कि ये सिद्धियाँ साधक की साधना के योग्यतानुसार ही कार्य करती हैं।

मैं इस प्रकार की कुछ सिद्धियों के नाम लिख रहा हूँ। मैं एक बात फिर बता दूँ – प्रत्येक अभ्यासी को ये सिद्धियाँ नहीं मिलती हैं और न ही मिल सकती हैं, ऐसी अवस्था में साधक चाहे जितना प्रयास कर ले। साधना काल में अपने आप दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, वाचासिद्धि, पूर्वाभास (भविष्य की घटनाओं आदि का ज्ञान होना) आदि सिद्धियाँ मिल जाती हैं। इन सिद्धियों के लिए विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता है। दिव्य-दृष्टि भी सिद्धि जैसा ही कार्य करती है। दिव्य-दृष्टि के देखने की क्षमता अन्य साधकों के समान नहीं होती है। दिव्य-दृष्टि में भी देखने की क्षमता में अन्तर होता है, ऐसा पूर्व पूर्वजन्म में किये गये योग के अभ्यास के कारण होता है; इसी कारण सभी गुरुओं में मार्गदर्शन करने की क्षमता में अन्तर होता है। कुछ सिद्धियाँ स्वयं के प्रयास से भी प्राप्त हो सकती हैं, इनके लिए विशेष प्रकार की अत्यन्त कठोर साधना करनी पड़ती है। मैंने भी बहुत समय तक कुछ सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए समय बर्बाद किया, इसीलिए मैं आप सभी को ये बातें समझा रहा हूँ। इस प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए आजकल मार्गदर्शक नहीं मिलेगा। मुझे इन सिद्धियों के विषय में समझाने के लिए एक दिव्य शक्ति ने सहयोग किया था, इसलिए मैं उस दिव्य-शक्ति को भी अपना गुरु मानता हूँ।

मैं अपनी एक बात बताना चाहता हूँ – कुछ दिव्य शक्तियों के मुझे वरदान भी मिले हुए हैं। मैं यहाँ पर इस विषय का उल्लेख नहीं करूँगा। इन वरदानों का प्रयोग मैंने सन् 1996 में महाराष्ट्र के जलगाँव और पूना शहर के अभ्यासियों पर किया था, फिर मैंने सदैव के लिए इस वरदान को त्याग दिया था। एक सिद्धि के विषय में थोड़ा लिख रहा हूँ – गले में एक विशेष प्रकार की नाड़ी होती है, उस नाड़ी और प्राणवायु का आपस में इस प्रकार का सम्बन्ध होता है कि अगर उसका संयमन किया जाए, तो अभ्यासी को भूख और प्यास पर अधिकार प्राप्त होने लगता है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि उसे कभी भूख बिल्कुल नहीं लगेगी। इतना अवश्य होगा कि अत्यन्त कम भोजन करने की आवश्यकता रह जाएगी। इस नाड़ी की बनावट विशेष प्रकार की होती है। खेचरी मुद्रा के कुशल अभ्यासियों को भी भूख पर अधिकार प्राप्त होने लगता है। खेचरी मुद्रा का अभ्यास मैंने नहीं किया है। मेरे एक मित्र खेचरी का अभ्यास किया करते थे। समाधि अवस्था में अपनी जीभ मुँह के अन्दर की ओर मोड़कर, गले के छिद्र के ऊपर

की ओर करनी पड़ती है। सिर के ऊपरी भाग से टपकने वाला विशेष प्रकार के गाढ़े मीठे द्रव्य को जीभ के अग्र भाग पर लिया करते है। उस मीठे गाढ़े पदार्थ के कारण बहुत समय तक भूख नहीं लगती है।

सिद्धियों के विषय में लिखना मैं उचित नहीं समझता हूँ। मेरे पास इस विषय में लिखने के लिए बहुत कुछ है, मगर समाज को न तो इससे लाभ मिलेगा और न ही अच्छा सन्देश जाएगा। कुछ लेख इस विषय में मेरे पास लिखा हुआ रखा है। वह लेख मेरे साधना काल का है जो सन् 1995 से 1996 के बीच का है। लेख वर्तमान समाज में किसी भी मनुष्य के गले नहीं उतरेगा, क्योंकि मैंने भी इस समाज में रहकर मनुष्यों के बीच बहुत शोध किया है। उस शोध के समय मुझे समाज द्वारा उपहास का पात्र बनना पड़ा। इसलिए मैं समझ गया कि यह विद्या सदैव के लिए मेरे साथ दफन हो जाएगी और यह उचित भी है, क्योंकि मेरी जैसी अवस्था को प्राप्त अभ्यासी चुप ही रहते हैं। फिर भी मैंने अपनी पुस्तक '**तत्त्वज्ञान**' में ऋतम्भरा प्रज्ञा के विषय में थोड़ा सा संक्षेप में लिखने का प्रयास किया है।

प्राणायाम के समय आन्तरिक कुम्भक की अवधि बहुत ज्यादा बढ़ानी पड़ती है। कुम्भक की अवधि बढ़ाने के लिए ज्यादातर कम भोजन पर रहना पड़ता है। इस प्रकार की सिद्धियों के लिए चित्त पर स्थित कर्म भी अवरोध डालने लगते हैं। इसीलिए अभ्यासी को समाधि की पराकाष्ठा पर ही इस प्रकार का प्रयास करना चाहिये, क्योंकि उच्च श्रेणी की सिद्धियाँ वायु तत्त्व और आकाश तत्त्व के संयमन से प्राप्त होती हैं। इसके लिए चित्त पर स्थित संस्कारों की मात्रा न के बराबर होनी चाहिये। ऐसे अभ्यासी संसार में मात्र कुछ ही मिलेंगे, इसीलिए ये विद्याएँ अत्यन्त गुप्त और दुर्लभ है। बहुत से अज्ञानी मनुष्यों को इन विद्याओं के विषय में ज्ञान न होने के कारण उन्हें झूठी बातें जैसी मानते हैं तथा इन विद्याओं के जानकार भी आजकल नहीं मिलते हैं। इस पृथ्वी पर अगर कुछ जानकार हैं भी, तो वे अपने आपको गुप्त रखते हैं।

18. मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा

अपने समाज में कर्म-काण्ड के अन्तर्गत रिवाज है कि जब किसी भी मन्दिर में नयी मूर्ति स्थापित की जाती है, उस समय मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा भी की जाती है। इस प्राण प्रतिष्ठा को पुरोहित, अन्य ब्राह्मण लोग और वे लोग भी जो पुरोहिती नहीं करते हैं, वे भी करते रहते हैं। कुछ क्षेत्रों में हर साल नयी मूर्ति घर-घर में स्थापित करते हैं। वहाँ पर घर का मुखिया (प्रमुख व्यक्ति) ही उस मूर्ति पर प्राण प्रतिष्ठा कर देता है। प्राण प्रतिष्ठा का कार्य हमारे समाज में आदिकाल से होता चला आया है।

प्राण प्रतिष्ठा का अर्थ होता है – प्राणों को प्रतिष्ठित कर देना अर्थात् प्राणों का संचार कर देना। मन्दिर या घर में जो पत्थर की नयी मूर्ति लाई जाती है, उसे चैतन्यमय बनाने के लिए उसमें प्राणों का संचार किया जाता है। इस पत्थर की मूर्ति के अन्दर प्राणों को (प्राण तत्त्व को) प्रवाहित करते हैं। फिर उस मूर्ति को जाग्रत मूर्ति कहा जाता है, अर्थात् पत्थर की या मिट्टी की बनी होने के बाद भी उसके अन्दर दिव्यता प्रदान कर दी जाती है। अब यह समझने वाली बात है – इनके द्वारा जो यह कार्य किया जाता है, क्या वह पूर्ण सत्य होता है? क्या मूर्ति के अन्दर प्राण प्रवाहित होने लगता है? मैं तो यह समझता हूँ कि ऐसा कार्य सभी मनुष्यों से नहीं हो सकता है।

प्राण प्रतिष्ठा करने का जो कर्म-काण्ड है, यह कार्य हमारे पूर्वज अर्थात् ऋषि, मुनि, योगी, तपस्वी और ब्राह्मण आदि किया करते थे। उनके द्वारा इस कार्य को सम्पन्न करने पर उस मूर्ति में प्राणों का संचार होने लगता था तथा इसका कारण यह था कि उन श्रेष्ठ पुरुषों ने तपस्या और योग के अभ्यास के द्वारा अपना आन्तरिक विकास कर लिया होता था तथा उनका प्राण-विज्ञान पर अधिकार होने के कारण प्राणों का संचार करना उनके लिए सामान्य क्रिया-सी थी। पूर्व काल के ब्राह्मण पुरुष निश्चय ही श्रेष्ठ होते थे क्योंकि वह जीवन भर तपस्या किया करते थे, योग का अभ्यास करके श्रेष्ठता को प्राप्त होते थे, सत्यनिष्ठ होने के साथ-साथ संयमित भी रहते

थे। ऐसे महापुरुषों में सामर्थ्य होता था तथा वे प्राण प्रतिष्ठा जैसा कार्य करने में पूर्ण सफल होते थे। इसीलिए शास्त्रों में कहीं-कहीं वर्णन मिलता है कि पूजा करते समय उस स्थान की मूर्ति से वही देवी या देवता प्रकट हो गये और आशीर्वाद देकर फिर उसी मूर्ति में विलीन भी हो गये। मूर्ति में प्राणों का संचार होने के कारण वह देवता उसी मूर्ति से प्रकट हो जाते थे। सच तो यह है कि वे देवता मूर्ति के अन्दर प्रवाहित प्राण तत्त्व का सहारा लेकर प्रकट हो जाते थे।

आजकल के मनुष्य अपने शरीर में प्राणों का संचार नहीं कर पाते हैं, मगर पत्थर या मिट्टी की मूर्ति में प्राणों का संचार करने लगते हैं। जब कोई व्यक्ति सजीव माँस पिण्ड में प्राण-संचार की सामर्थ्य नहीं रखता है, तब वह निर्जीव पत्थर की मूर्ति में कैसे प्राणों का संचार कर सकता है? क्योंकि उसने कभी भी यम-नियम का पालन नहीं किया होता है, प्राणायाम और तपस्या नहीं की है, योग का अभ्यास नहीं किया है, इसीलिए उसका आन्तरिक विकास नहीं हुआ है। तब फिर प्राण तत्त्व पर कैसे अधिकार प्राप्त हो सकता है? बस मात्र दिखावे के लिए यह कार्य करते रहते हैं। उस मूर्ति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है, संसारी मनुष्य सब कुछ समझता है। इतने भी अज्ञानी नहीं है कि ये बातें उन्हें मालूम नहीं है, मगर फिर भी प्राण-प्रतिष्ठा का कार्यक्रम बहुत ही हर्षोल्लास के साथ मनाते रहते हैं। ब्राह्मणों को खाना खिलाकर दक्षिणा देकर बहुत-सा खर्च करते रहते हैं।

ऐसा निश्चित है कि जो पूर्ण रूप से अज्ञान से युक्त हैं और सिर्फ सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करने तथा उन्हें भोगने में सारा जीवन व्यर्थ में गँवा दिया, कभी भी आध्यात्मिक मार्ग पर नहीं चला है, वह ऐसा कार्य नहीं कर सकता है। इस प्रकार के कार्यों को उच्च श्रेणी का भक्त, उच्च श्रेणी का साधक और योगी ही कर सकते हैं। इनके अन्दर ही इतना सामर्थ्य होता है कि वह पत्थर की मूर्ति के अन्दर प्राणों का संचार कर सकते हैं। ऐसे श्रेष्ठ पुरुष ही प्राण-प्रतिष्ठा के सुपात्र हैं। जिस-जिस मूर्ति में प्राण प्रतिष्ठा का कार्य योगियों द्वारा हुआ है, बहुत समय बीत जाने के बाद आज भी मूर्तियाँ प्राण संचार से युक्त हैं। ऐसी मूर्तियों को जाग्रत मूर्तियाँ कहा जाता है। जाग्रत मूर्ति के पास पूजा-अर्चना, प्रार्थना और ध्यान किया जाए तो अवश्य उचित लाभ प्राप्त

होता है। ऐसी जाग्रत मूर्तियाँ पूजा करने योग्य हैं। वर्तमान समय में भी हमारे देश में ऐसी जाग्रत मूर्तियाँ कई सारी हैं। ऐसे स्थानों पर मूर्तियों के दर्शन करने के लिए समझदार व्यक्ति अवश्य जाते हैं।

19. प्राणों की शुद्धता में भोजन का महत्त्व

साधक के लिए उसके साधना काल में भोजन का बहुत महत्त्व होता है। साधक जिस प्रकार का भोजन करता है उसी प्रकार का प्रभाव उसके शरीर पर पड़ता है, क्योंकि किये गये भोजन से उसकी सूक्ष्म नाड़ियाँ और सूक्ष्म शरीर भी प्रभावित होता है। अगर मैं और बारीकी व स्पष्टता से बताऊँ तो उसका प्रभाव उसके वलय पर भी पड़ता है। क्योंकि जिस प्रकार का मन, सूक्ष्म शरीर और चित्त होगा उसी प्रकार का उसका वलय होगा। वलय हमारे सूक्ष्म शरीर की रक्षा करने के अतिरिक्त बाहरी दुष्ट शक्तियों के प्रभाव से भी बचाता है।

साधक को सदैव सात्विक भोजन करना चाहिये। इससे उसका शरीर शुद्ध रहता है तथा शरीर की सूक्ष्म नाड़ियाँ शुद्ध रहती है। यहाँ पर शुद्धता का अर्थ प्राणों की शुद्धता से है। शुद्ध प्राणवायु वाले शरीर में शुद्ध रक्त का प्रवाह ज्यादा रहता है, क्योंकि भोजन के द्वारा बनी प्राणवायु शुद्ध होकर सूक्ष्म नाड़ियों में ज्यादा स्फूर्ति प्रदान करती है। नाड़ियों में ज्यादा स्फूर्ति का कारण प्रमुख ग्रन्थियों के कार्य करने की क्षमता में बढ़ोत्तरी होती है। तब साधक का स्थूल शरीर निरोगी रहेगा। सात्विक भोजन का प्रभाव मन पर पड़ने के कारण, सात्विक मन वाले की सोच भी सात्विक व श्रेष्ठ होगी। निर्मल चित्त वाले का जीवन भी निर्मलता वाला होता है। तमोगुणी भोजन करने पर विचारों में मलिनता और संकीर्णता आती है, ऐसे मन वाले का स्वभाव चिड़चिड़ा, क्रोधी और अधर्म में रुचि लेने वाला होता है। जब चित्त में मलिनता बढ़ने लगती है, तब मलिन चित्त वाले की सदैव पाप से युक्त कर्म करने की प्रवृति हो जाती है। ऐसा

इसलिए होता है, क्योंकि जब तामसिक भोजन खाया जाता रहता है, तब उसके शरीर में तमोगुण की मात्रा बढ़ने लगती है। यह तमोगुण साधक के मार्ग में अवरोध का कार्य करता है। इसलिए साधक ही नहीं, सभी के लिए सात्विक भोजन करना ज्यादा श्रेष्ठ रहता है।

ज्ञानमार्ग के अनुसार पाँच प्रकार के कोश माने जाते हैं – **1.** अन्नमय कोश, **2.** प्राणमय कोश, **3.** मनोमय कोश, **4.** विज्ञानमय कोश, **5.** आनन्दमय कोश। अन्नमय कोश के अनुसार ही प्राणकोश का निर्माण होता है। यदि अन्नमय कोश शुद्ध है तो प्राणमय कोश शुद्ध होगा क्योंकि प्राणमय कोश अन्नमय कोश की शुद्धता और अशुद्धता पर आधारित रहता है। इसलिए साधक को अपना अन्नमय कोश शुद्ध रखना चाहिये। इससे प्रभावित हुआ प्राणमय कोश अगर शुद्ध है, तो उसका आगे का मार्ग शीघ्र प्रशस्त होता जाएगा। अगर प्राणमय कोश अशुद्ध होगा, तब उसका आध्यात्मिक मार्ग प्रशस्त नहीं हो पाएगा, क्योंकि सूक्ष्म शरीर प्राणमय कोश से ही पूरी तरह से प्रभावित रहता है तथा सूक्ष्म जगत भी वायु तत्त्व से प्रभावित रहता है। इसलिए साधक के लिए अनिवार्य है कि अपने प्राणों को शुद्ध रखने के लिए भोजन पर विशेष ध्यान रखे। प्राणों की शुद्धता के अनुसार ही सूक्ष्म शरीर शुद्ध रहता है। जैसा सूक्ष्म शरीर होगा वैसा ही उसका मन बनता है। इसीलिए कहा जाता है – "जैसा खाओगे अन्न, वैसा बनेगा मन"।

साधक को बाजार के बने भोजन से भी बचना चाहिये, क्योंकि बाजार का बना हुआ भोजन बहुत ही ज्यादा मात्रा में अशुद्ध होता है क्योंकि हमें मालूम नहीं होता है कि भोजन बनाने वाले का स्वभाव कैसा है, कैसे कर्मों को करने वाला है तथा भोजन बनाते समय उसकी सोच कैसी है आदि, इसका प्रभाव पड़ता है। उस भोजन को जो भी व्यक्ति खायेगा, उसके अन्दर भोजन बनाने वाले के संस्कार चले जाते हैं। उन संस्कारों का प्रभाव साधक पर पड़ता है। इससे उसके संस्कार (भोजन करने वाले के) दूषित होने लगते हैं तथा चित्त में मलिनता भी आती है।

साधक को सदैव ध्यान रखना चाहिये कि भोजन बनाने वाला सात्विक स्वभाव वाला होना चाहिये तथा भोजन बनाते समय उसकी सोच अच्छी होनी चाहिये। इसलिए उस समय

वह मंत्रोच्चारण करता रहे तो अच्छा है। इससे भोजन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। ऐसे भोजन से उसे अभ्यास में सहयोग मिलता है। सबसे अच्छा भोजन वही होता है जिस भोजन को साधक खुद बनाता है। साधक द्वारा बनाया गया भोजन परम पवित्र होता है। उसके प्राण भी बड़ी तीव्रता से शुद्धता को प्राप्त होने लगते है। अगर साधक को अच्छी साधना करनी है, तब उसे स्वयं भोजन बनाना चाहिये। यदि किसी उच्चावस्था प्राप्त साधक का बना हुआ भोजन सामान्य मनुष्य कुछ दिनों तक लगातार खाता रहे, तो उसके अन्दर विचार बदलने लगेंगे।

20. प्राणों द्वारा रोग दूर करना

मनुष्य के शरीर में जब प्राण किसी कारण से अशुद्ध होने लगते हैं अथवा हो जाते हैं, तब उसके शरीर में विभिन्न प्रकार के रोग लगने लगते हैं। प्राणों के दूषित हो जाने पर शरीर के अन्दर के अंगों के कार्य करने की क्षमता में गड़बड़ी आने लगती है अथवा उचित क्षमता के अनुसार कार्य नहीं कर पाते हैं। ऐसी अवस्था में शरीर के अन्दर अनियमित क्रियाएँ होनी शुरू होने लगती हैं, तब बाद में रोगों का उत्पन्न होना शुरू हो जाता है। इसलिए प्राणों का सदैव शुद्ध रहना आवश्यक होता है, इससे शरीर स्वस्थ रहता है। शरीर के अन्दर जब अंग सुचारु रूप से कार्य नहीं कर पाते हैं, तब उस अंग से सम्बन्धित बीमारी होने लगती है। फिर उस बीमारी को ठीक कराने के लिए चिकित्सक के पास जाना पड़ता है। इससे धन का व्यय होता है तथा शरीर को भी कष्ट भोगना पड़ता है। इससे अच्छा है वह अपने प्राणों को दूषित न होने दे।

साधक को नशीले पदार्थों के सेवन से बचना चाहिये तथा प्राणायाम करने की विधि भी सीख लेनी चाहिए। उस प्राणायाम को नियमित रूप से रोजाना कुछ समय करना चाहिए। इससे शरीर निरोगी बनता है। हम सभी जानते हैं कि रोगों के उपचार के लिए चिकित्सक द्वारा दी गयी ऐलोपैथिक दवा भी स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती है। उस समय तो उस दवा से रोग ठीक

हो जाता है, मगर उस दवा का सूक्ष्म रूप से दूरगामी दुष्प्रभाव भी पड़ता है। मनुष्य को चाहिये कि वह अपने शरीर को ज्यादा से ज्यादा निरोगी रखने का प्रयास करे, जिससे उन रोगों के कष्टों से और धन हानि से न गुजरना पड़े।

कुछ रोगों को प्राणों के द्वारा ठीक किया जा सकता है, मगर कुछ रोग ऐसे भी होते हैं जो प्राणों के द्वारा ठीक नहीं किये जा सकते हैं। ऐसे रोग बहुत ही घातक होते हैं, इनका निवारण प्राणों के द्वारा सम्भव नहीं होता है। कुछ ऐसे भी रोग होते हैं जिनके कर्माशय उनके चित्त पर इस प्रकार होते हैं जिन्हें भोगकर नष्ट करना ही होता है। चिकित्सक भी ऐसे रोगों को ठीक नहीं कर पाते हैं, बस उन रोगों का उपचार चलता रहता है। प्राणों के द्वारा रोग का निवारण करते समय किसी प्रकार के धन आदि का व्यय नहीं होता है। गुरु, उच्च कोटि का साधक, भक्त, अधिक प्राणायाम करने वाला अथवा जिसके शरीर के अन्दर शुद्ध प्राण का प्रवाह बह रहा है, वह दूसरों के रोगों का निवारण कर सकता है, क्योंकि रोगी के शरीर के अन्दर अशुद्ध प्राणवायु का प्रभाव ज्यादा हो जाता है, इससे शरीर का कोई अंग सही ढंग से कार्य नहीं कर पाता है। यदि रोगी के शरीर में शुद्ध प्राण का प्रवेश करा दिया जाए, तब उसका रोग धीरे-धीरे ठीक होने लगेगा।

किसी भी रोगी का रोग शुद्ध प्राणों के द्वारा ठीक करना है, तब इस प्रकार की क्रिया करनी चाहिये। सबसे पहले समतल भूमि पर चटाई या दरी बिछा लें, फिर उसके ऊपर स्वच्छ सफेद चादर बिछा लें, फिर उस पर रोगी को पीठ के बल सीधा लिटा दें। उसके स्थूल शरीर की स्थिति शवासन जैसी होनी चाहिये। रोगी से कहो कि वह आँखें बन्द कर ले और शान्त होकर ईश्वर में अपने मन को लगाये अथवा सोचे कि उसका रोग ठीक हो रहा है और कुछ समय बाद उसका रोग ठीक हो जाएगा। अब आप अपने दाहिने हाथ की हथेली को अपने मुँह के एक फीट से कम दूरी पर लाये, उसे गौर पूर्वक देखे और हथेली को सन्देश दें – तुम्हारे अन्दर ज्यादा से ज्यादा शुद्ध प्राणवायु बाहर की ओर निकले, फिर रोगी के मुँह के पास हथेली ले जाएँ। रोगी के शरीर से आपकी हथेली 3-4 इंच की दूरी होनी चाहिये, रोगी के शरीर से स्पर्श न करें। अब रोगी के मुँह से पैरों की ओर हथेली को धीरे-धीरे ले जाएँ। अपनी हथेली से शुद्ध प्राणवायु

निकालते हुए रोगी के शरीर में प्रवेश कराते रहें, तथा अपने मुँह के अन्दर धीरे से कहें – "हे रोग! तू दूर हो जा, इस शरीर को त्याग दे, तू ब्रह्म की शक्ति है"। हथेली को रोगी के पंजों तक ले जाएँ, फिर अपनी हथेली को रोगी के शरीर से थोड़ी दूरी पर एक ओर से झटक दें। इसी प्रकार से क्रिया बार-बार करें। यह क्रिया शुरूआत में पाँच-सात मिनट तक करते रहें। फिर यह क्रिया करना बन्द कर दें। इस प्रकार से कुछ दिनों तक उपचार करते रहें। कुछ दिनों बाद आप देखेंगे कि रोगी के शरीर में धीरे-धीरे सुधार हो रहा है।

जो व्यक्ति रोग को दूर कर रहा है, उसे देखना चाहिये कि रोग को दूर करते समय रोगी का रोग उसके अन्दर न आ जाये अथवा रोग उसे प्रभावित न कर सके। इसके लिए उपचारकर्ता को अपने शरीर के चारों ओर कवच बना लेना चाहिये, अथवा निश्चित गिनती में मृत्युन्जय मंत्र का जाप करके अपने ऊपर आवरण बनाकर ओढ़ लेना चाहिये। इस प्रकार का तरीका अपनाकर छोटे-छोटे रोग तुरन्त दूर किये जा सकते हैं, मगर बड़े रोगों के लिए कई दिनों तक इसी प्रकार से उपचार करना पड़ेगा, तब कुछ दिनों बाद रोग पर प्रभाव पड़ेगा।

21. वायु तत्त्व से बने सूक्ष्म शरीर का नष्ट न होना

प्रकृति अपनी रचना तीन अवस्थाओं में रचती है। ये तीनों अवस्थाएँ इस प्रकार से हैं: **1.** कारण अवस्था **2.** सूक्ष्म अवस्था **3.** स्थूल अवस्था। प्रकृति (अपरा) पहले कारण अवस्था में प्रकट होती है। फिर बहिर्मुखी हुई प्रकृति में जब तमोगुण की मात्रा बढ़ती है, तब सूक्ष्म अवस्था में प्रकट होकर सूक्ष्म जगत का निर्माण करती है। फिर बहिर्मुखी होने पर जब और तमोगुण की मात्रा बढ़ती है, तब स्थूल अवस्था में प्रकट हुई प्रकृति स्थूल जगत का निर्माण

करती है। इस स्थूल जगत में सम्पूर्ण व्यवहार तमोगुण की प्रधानता से युक्त ही होते हैं। इसी स्थूल जगत में हम सभी मनुष्य रह रहे हैं और व्यवहार कर रहे हैं।

मनुष्य का शरीर भी तीन प्रकार का होता है: **1.** कारण शरीर, **2.** सूक्ष्म शरीर, **3.** स्थूल शरीर। सबसे पहले कारण शरीर का निर्माण हुआ। इस शरीर का सम्बन्ध कारण जगत से रहता है। फिर सूक्ष्म शरीर का निर्माण हुआ। इसका सम्बन्ध सूक्ष्म जगत से रहता है। सूक्ष्म शरीर का निर्माण सूक्ष्म पंचभूतों से होता है। सूक्ष्म शरीर में कर्माशय विद्यमान रहते हैं। सूक्ष्म पंच भूतों के बहिर्मुखी होने पर स्थूल पंच भूत प्रकट हो जाते हैं। इन स्थूल पंचभूतों से स्थूल शरीर का निर्माण हुआ है तथा स्थूल पंच भूतों से स्थूल जगत का निर्माण हुआ है। इसीलिए स्थूल शरीर का व्यवहार स्थूल जगत में होता है। सूक्ष्म शरीर का व्यवहार सूक्ष्म जगत में होता है क्योंकि दोनों का निर्माण (शरीर और जगत) सूक्ष्म पंच भूतों से होता है। आपस में इन दोनों का घनत्व एक जैसा ही होता है।

प्रकृति में कारण जगत से सूक्ष्म जगत, सूक्ष्म जगत से स्थूल जगत का प्राकट्य गुणों की विषमावस्था के कारण होता है। ये तीनों गुण आपस में क्रिया करते रहते हैं। जब बहिर्मुखता बढ़ती है, तब तमोगुण की मात्रा बढ़ती जाती है। इसकी मात्रा बढ़ने के साथ-साथ व्यापकता कम हो जाती है क्योंकि घनत्व बढ़ता जाता है। इसीलिए कारण शरीर से सूक्ष्म शरीर में कम व्यापकता होती है और घनत्व ज्यादा हो जाता है। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर से स्थूल शरीर में घनत्व बहुत ही ज्यादा होता है, वह (स्थूल शरीर) ठोसता को प्राप्त हो जाता है तथा व्यापकता समाप्त-सी हो जाती है, यह मात्र थोड़े से क्षेत्र में रह जाता है। स्थूल शरीर के अन्दर सूक्ष्म शरीर समाया होता है क्योंकि उसका घनत्व कम होता है और व्यापकता ज्यादा होती है। इसीलिए यह स्थूल शरीर यंत्र मात्र होता है। इसे सूक्ष्म शरीर ही चलाता है और अनुभूत भी करता है। स्थूल शरीर के अन्दर सूक्ष्म शरीर समाए होने के कारण ऐसा लगता है कि यह स्थूल शरीर ही सब कुछ कर रहा है।

स्थूल शरीर के अंगों को अगर काट दिया जाए, तो वह कट कर अलग हो जाते हैं। कटा हुआ अंग कुछ क्षणों के बाद निर्जीव-सा हो जाता है। यदि कटा हुआ अंग कुछ समय के लिए फड़फड़ाता है तो यह क्रिया उसके अन्दर व्याप्त प्राण तत्त्व के कारण होती है। प्राण के निकलने के बाद वह अंग मांस पिण्ड के रूप में रह जाता है। मगर सूक्ष्म शरीर में यह क्रिया नहीं होती है। यदि सूक्ष्म शरीर को काट दिया जाए तो स्थूल शरीर के समान उसका कटा हुआ अंग निर्जीव-सा नहीं होता है, बल्कि वह दुबारा आपस में जुड़ जाता है। ऐसा वायु तत्त्व (प्राण तत्त्व) के कारण होता है। वायु तत्त्व सर्वव्याप्त होने के कारण तथा वायु तत्त्व की प्रधानता से उसका निर्माण होने के कारण ऐसा होता है। इसलिए सूक्ष्म शरीर को काटा नहीं जा सकता है, उसे विभिन्न प्रकार की यातनाएँ दी जा सकती है। इन यातनाओं की अनुभूति प्राण तत्त्व कराता है।

जिस प्रकार स्थूल शरीर वृद्ध होकर एक समय मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, सूक्ष्म शरीर में इस प्रकार की क्रिया नहीं होती है। सूक्ष्म शरीर मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि जब तक सूक्ष्म शरीर के अन्दर कर्माशय विद्यमान रहेंगे, तब तक सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व बना रहेगा। इसीलिए सूक्ष्म शरीर लगातार जन्म ग्रहण करता रहता है। अन्त में जब प्रलय होती है, तब अपरा-प्रकृति के अन्दर सभी जीवों के चित्त बीज रूप में विद्यमान होकर बने रहते हैं। फिर अपरा-प्रकृति स्वयं बीज के रूप में परा-प्रकृति के अन्दर विद्यमान हो जाती है। फिर अनन्तकाल बाद जब सृष्टि का कार्य शुरू होने वाला होता है, तब बीज रूप में विद्यमान अपरा-प्रकृति बहिर्मुखी होकर प्रकट हो जाती है, उसमें स्थित जीवों के चित्त भी उचित समय में प्रकट होने लगते हैं। फिर वही सूक्ष्म शरीर जन्म ग्रहण करने के लिए चल देता है। ऐसा क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक उसके अन्दर कर्माशय विद्यमान रहते हैं।

आप सोच सकते हैं कि क्या इस सूक्ष्म शरीर का अन्त नहीं होता है! उत्तर– इसका भी एक समय बाद अन्त होता है। कोई भी मनुष्य जब कई जन्मों तक कठोर साधना करता रहता है, अन्त में जब उसका आखिरी जन्म होता है तब उसे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। तत्त्वज्ञानी पुरुष जब अपना स्थूल शरीर त्यागता है तब उसी समय उसका सूक्ष्म शरीर उसकी योगाग्नि के द्वारा

जल कर भस्म हो जाता है, क्योंकि अब सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व में रहने का कोई कारण नहीं बनता है। योगी (तत्त्वज्ञानी) ने निर्बीज समाधि द्वारा अपने चित्त पर स्थित सम्पूर्ण कर्माशयों को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा के ज्ञान के प्रकाश से चित्त पूर्ण रूप से प्रकाशित हो चुका है। ऐसी अवस्था में चित्त पर संसार का बीज मूल से नष्ट हो जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष स्थूल शरीर त्यागने के पश्चात परा-प्रकृति में स्थित हो जाता है।

संसारी मनुष्य की जब मृत्यु होती है तब सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध स्थूल शरीर से पूर्ण रूप से टूट जाता है। फिर सूक्ष्म शरीर इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि को अपने अन्दर समेट कर चल देता है। शुरूआत में बहुत समय तक वासना शरीर में विद्यमान होकर भटकने के बाद कर्मों के अधीन हुआ भुवर्लोक में जाता है, तब उसे वहाँ पर कर्मानुसार घोर यातना सहनी पड़ती है। मैंने इस विषय में कई वर्षों तक शोध किया है। वहाँ पर जिस प्रकार की जानकारी मिली, उसका वर्णन यहाँ पर नहीं कर सकता हूँ क्योंकि ये सब बातें कोई भी पढ़कर यकीन नहीं करेगा। यह सारा कार्य दिव्य-दृष्टि के द्वारा किया करता था। उनके विषय में कुछ शब्द लिख रहा हूँ– मैंने कुछ जीवात्माओं के सूक्ष्म शरीरों को देखा, उन्हें यातना देते समय उनके सूक्ष्म शरीर को कई टुकड़ों में काट डाला जाता था, फिर कटे हुए अंग प्राण तत्त्व के कारण, बुरी तरह से तड़पने लगते थे, और उन्हीं के अन्दर से चीखने की ध्वनि भी निकलती थी, मगर कुछ क्षणों बाद कटे हुए अंग आपस में जुड़ जाते थे। ऐसा मैंने कई बार देखा था।

कुछ दिनों बाद मैंने एक दिव्य शक्ति से पूछा – "सूक्ष्म शरीर बार-बार काट दिये जाने के बाद आपस में जुड़ जाते है ऐसा क्यों होता है?"। दिव्य शक्ति ने उत्तर दिया – "ऐसा प्राण तत्त्व के कारण होता है। प्राणों के टुकड़े नहीं किये जा सकते है, क्योंकि वह तो सर्वत्र व्याप्त है वह कैसे काटा जा सकता है! उसका अस्तित्व तो प्राण तत्त्व के द्वारा ही है। अगर सूक्ष्म शरीर को जलाया अथवा आग के कुण्ड में डाल दिया जाए, तो भी सूक्ष्म शरीर जलकर राख (नष्ट) नहीं हो सकता है, क्योंकि अग्नि तत्त्व वायु तत्त्व को कैसे नष्ट कर सकता है! वायु तत्त्व से अग्नि तत्त्व का प्राकट्य हुआ है, इसलिए अग्नि तत्त्व वायु तत्त्व के अन्दर विद्यमान रहता है। सूक्ष्म शरीर

और सूक्ष्म जगत का आधार वायु तत्त्व होता है, इसलिए सूक्ष्म शरीर के अंगों को काटकर नष्ट नहीं किया जा सकता, जिस प्रकार से स्थूल शरीर के अंगों को काटकर नष्ट कर किया जा सकता है।"

भुवर्लोक में सूक्ष्म शरीर को कठोर से कठोर दण्ड देने के बाद भी उस शरीर में क्षति नहीं पहुँचती है, बल्कि दण्ड के रूप में उस जीवात्मा के तमोगुणी कर्माशयों का नाश किया जाता है। फिर निश्चित समय बाद जन्म ग्रहण करने के लिए भूलोक पर आ जाता है।

22. प्राणों के भिन्न-भिन्न कार्य

शरीर को जीवित रखने का कार्य प्राणवायु ही करती है। प्राणवायु ही सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर कार्य कर रही है, यह जीवित रखने का कार्य करती है। वैसे मैं पहले कई जगहों पर लिख चुका हूँ कि इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना प्राण तत्त्व (वायु तत्त्व) के द्वारा ही हुई है। एक ही प्राणवायु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर भिन्न-भिन्न तरह से कार्य करती है। इन्हीं कार्यों के अनुसार प्राणों को अलग-अलग नाम दिये गये हैं। यह प्राण तत्त्व मुख्य रूप से पाँच प्रकार से कार्य कर रहा है, इसलिए एक ही प्राण तत्त्व को पाँच प्रकार के नामों से जाना जाता है – **1.** प्राण, **2.** अपान, **3.** व्यान, **4.** समान, **5.** उदान। इन पाँचों के एक सहायक (उप) प्राण भी होते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं – **1.** नाग, **2.** कूर्म, **3.** कृकल, **4.** देवदत्त, **5.** धनञ्जय। ये दसों प्राण प्रधान और सहायक के रूप में अलग-अलग कार्य करते हैं।

1. **प्राण**– यह हृदय के क्षेत्र में कार्य करता है। दिल के धड़कने का कार्य इसी प्राण के द्वारा होता है। वृद्धावस्था के अन्त में जब मृत्यु का समय आता है, तब यह प्राण प्रधान रूप से महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।

2. **अपान**– अपान वायु शरीर के निचले भाग में कार्य करती है। मल त्यागते समय प्रधान रूप से क्रियाशील रहती है। बच्चे के जन्म के समय यही अपान मुख्य रूप से कार्य करता है।
3. **व्यान**– यह प्राणवायु सम्पूर्ण शरीर में समान रूप से व्याप्त होकर सभी अंगों को बढ़ाने का कार्य करती है। सूक्ष्म ग्रन्थियों में व्याप्त होकर अंगों को पुष्ट बनाती है।
4. **समान**– यह प्राणवायु पेट के क्षेत्र में व्याप्त होकर कार्य करती है तथा पाचन क्रिया में सहयोग करती है।
5. **उदान**– उदान वायु गर्दन से ऊपर सिर के अन्दर कार्य करती है। इस उदान वायु से ज्यादा कार्य साधक अथवा योगी पुरुष लेते हैं। जब साधक का कण्ठचक्र खुल जाता है इसके बाद उदान वायु विशेष रूप से क्रियाशील हो जाती है और योगी पुरुष जब स्थूल शरीर को त्याग करते हैं, तब उदान वायु का सहारा लेकर ऊर्ध्वगमन करते हैं।
6. **नाग**– यह प्राणवायु उल्टी करने का कार्य करता है।
7. **कूर्म**– यह प्राणवायु आँखें बन्द करने और खोलने का कार्य करती है। अर्थात् पलकों में कार्य करती है।
8. **कृकल**– यह प्राण छींकने का कार्य करता है।
9. **देवदत्त**– जम्हाई लेते समय यह प्राणवायु कार्य करती है।
10. **धनञ्जय**– यह प्राण सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है और मृत्यु होने के बाद भी शरीर के अन्दर बना रहता है।

अपान वायु के विषय में हम सभी जानते है कि ये सदैव अधोगति को प्राप्त होती रहती है। जन्म के समय भी यही वायु प्रधान रूप से कार्य करती है तथा मल-मूत्र त्यागने का कार्य करती है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब साधक योग का अभ्यास करता है अर्थात् ध्यान लगाने की शुरूआत करता है तब सबसे पहले यही प्राणवायु अपना सामान्य स्वभाव छोड़कर ऊर्ध्वमुखी होने लगती है तथा मूलाधार चक्र के क्षेत्र में कार्य करने लगती है। मूलबन्ध और सिद्धासन के समय भी यह अपान वायु तीव्र गति से अपना सामान्य स्वभाव अधोमुखता

छोड़कर अन्तर्मुखी होने लगती है। सभी प्रकार के प्राणायाम के समय यह प्राणवायु अधिक प्रभावित रहती है। भस्त्रिका प्राणायाम के समय इस प्राणवायु पर अधिक प्रभाव पड़ता है। कपालभाति के समय और उड्डियान बन्ध के समय समान वायु अधिक क्रियाशील होने लगती है। इससे पाचन क्रिया भी तीव्र गति से कार्य करने लगती है। आन्तरिक कुम्भक और बाह्य कुम्भक के समय व्यान वायु तीव्र गति से क्रियाशील होने लगती है। कण्ठचक्र खुलने के बाद सविकल्प समाधि के समय उदान वायु अधिक क्रियाशील रहती है। सूक्ष्म शरीर को ऊर्ध्वगति प्रदान करते समय यही उदान वायु ऊपर के लोक ले जाने में सहायक होती है।

23. अशुद्ध प्राणवायु के कारण क्रियाएँ होना

प्राणों की अशुद्धता सिर्फ स्थूल शरीर को ही नहीं प्रभावित करती है, बल्कि सूक्ष्म शरीर को भी प्रभावित करती है। स्थूल शरीर में जब प्राण अशुद्ध रहता है, तब कुछ समय बाद प्राणों के कारण धीरे-धीरे बीमारियाँ लगनी शुरू हो जाती हैं। ऐसा सामान्य व्यक्तियों के साथ होता है। अशुद्ध प्राणों का प्रभाव साधकों पर भी पड़ता है। ऐसी अवस्था में उसकी साधना में किसी न किसी प्रकार से अवरोध आने लगता है। साधक के लिए अभ्यास में सफलता प्राप्त करने के लिए प्राणों का शुद्ध होना अनिवार्य है। इसलिए साधक को प्राणों के शुद्धिकरण के लिए विशेष ध्यान देना चाहिये। सच तो यह है कि बहुत से मार्गदर्शकों को भी इस विषय में बारीकी से जानकारी नहीं होती है, इसीलिए आध्यात्मिक मार्ग में अपने शिष्यों का कुशल मार्गदर्शन नहीं कर पाते हैं।

साधक जब योग का अभ्यास करना शुरू करता है, तब उसे शुरूआत में कुछ महीने अथवा कुछ साल किसी प्रकार की कोई क्रिया ध्यानावस्था में नहीं होती है। मगर कुछ समय बाद साधक जैसे ही ध्यान करने के लिए बैठता है, तब उसे विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ होनी

शुरू हो जाती है। वह उसी अवस्था में बैठा रहता है और क्रियाएँ होती रहती हैं। साधक इन्हीं क्रियाओं को योग का अभ्यास समझ लेता है। साथ में यह भी समझता है कि इस प्रकार की क्रियाएँ उसकी सफलता की सूचक हैं। इसीलिए इस प्रकार की क्रियाओं के कारण प्रसन्न भी रहता है कि उसे शीघ्र ही कोई सफलता प्राप्त होगी। कभी-कभी ध्यानावस्था के समय साधक को बहुत जोर से उल्टी-सीधी क्रियाएँ होने लगती है। कभी वह हाथ पटकता है, कभी-कभी जोर-जोर से चीखता है और अजीब-सी हरकतें करता है। जब थोड़ी देर में साधक का शरीर थक जाता है फिर शान्त होकर बैठ जाता है। जैसे ही शरीर को थोड़ा आराम मिल जाता है फिर वही उल्टी-सीधी क्रियाएँ शुरू हो जाती हैं। बस यही क्रम चलता रहता है, इसी को योग का अभ्यास समझ लिया जाता है।

बहुत से अज्ञानी व्यक्ति इन्हीं क्रियाओं को कुण्डलिनी-शक्ति का जागरण समझने की भूल कर बैठते हैं, जबकि ऐसा कुछ भी नहीं होता है। यह जिम्मेदारी मार्गदर्शक की होती है कि साधक को समझाए कि यह कुण्डलिनी-शक्ति का जागरण नहीं है। मार्गदर्शक क्या समझायेगा, उसे खुद भी इस विषय में ज्ञान नहीं होता है! बहुत से अज्ञानी मार्गदर्शकों का कहना होता है कि कुण्डलिनी जागरण के समय इस प्रकार की उल्टी-सीधी क्रियाएँ होती ही हैं, इसलिए कुण्डलिनी जागरण का प्रयास नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह मस्तिष्क को खराब कर देती है, साधक पागल हो जाता है आदि। ऐसे मार्गदर्शकों ने कुण्डलिनी-शक्ति को बदनाम कर रखा है। ये दूसरों का क्या मार्गदर्शन करेंगे, जब वे खुद ही अज्ञानता के अंधकार में डूबे हुए हैं!

मुझे यह मालूम है कि यह जो क्रियाएँ साधक को हो रही होती हैं, इसका कारण प्राणों का अशुद्ध होना है। इसलिए मार्गदर्शक का कर्तव्य बनता है कि वह साधक को समझाये कि वह अपने प्राणों को शुद्ध करे अथवा मार्गदर्शक स्वयं शक्तिपात करके साधक की क्रियाएँ होनी बन्द कर दे। मगर इस कार्य के लिए मार्गदर्शक के अन्दर बारीकी से जानकारी व बहुत ज्यादा योगबल होना चाहिये, तभी ऐसा कार्य हो पाना सम्भव होता है। मैं स्वयं अपनी बात लिख रहा हूँ – मेरे द्वारा सिखाया गया साधक कभी भी उल्टी-सीधी क्रियाएँ नहीं कर सकता है, इसकी

जिम्मेदारी मैं स्वयं लेता हूँ। अगर साधक के प्राणों की अशुद्धता के कारण क्रियाएँ होने लगें, तब मैं स्वयं उन क्रियाओं को बन्द कर देता हूँ, ताकि उसका आगे का मार्ग प्रशस्त हो जाए। मैं बता दूँ – मुद्राएँ होना गलत नहीं है, वे लाभदायी होती हैं। उन मुद्राओं का कुछ-न-कुछ अर्थ निकलता है; ऐसी मुद्राएँ भविष्य में अपने आप बन्द हो जाएँगी।

ये क्रियाएँ क्यों होती हैं, अब मैं थोड़ा स्पष्ट करके बता रहा हूँ। अनन्त काल के कर्म चित्त की भूमि पर एकत्र होते रहते हैं। इन कर्माशयों में स्थित तमोगुण के कारण मलिनता का प्रभाव बहुत ज्यादा हो जाता है, यही तमोगुणी मलिनता सूक्ष्म शरीर के अन्दर सूक्ष्म नाड़ियों में भरी रहती है। इस कारण सूक्ष्म शरीर भी मलिन हो जाता है। इन सूक्ष्म नाड़ियों में भरा हुआ तमोगुण ही साधक के लिए अवरोध का कार्य करता है। इन सूक्ष्म नाड़ियों में शुद्ध प्राणवायु प्रवाहित होना चाहिये, उसकी जगह पर तमोगुणी कर्मों के कारण नाड़ियों में अशुद्ध (मलिन) प्राणवायु प्रवाहित होने लगती है, यही अशुद्धता सूक्ष्म नाड़ियों को अवरूद्ध करने लगती है। इसी प्रकार मस्तिष्क की सूक्ष्म कोशिकाओं में भी मलिनता भर जाती है। जब साधक ध्यान करता है, तब ये सूक्ष्म कोशिकाएँ क्रियाशील होने लगती हैं अथवा क्रियाशील होने का प्रयास करती हैं, उस समय अशुद्धता (मलिनता) के कारण उल्टी-सीधी क्रियाएँ होने लगती हैं, क्योंकि प्राणों में मलिनता मिली हुई है। ऐसी अवस्था में साधक अपने आप को रोक नहीं पाता है, वह प्राणों के कारण मजबूर होता है। जब साधक इन क्रियाओं के कारण थक जाता है तब वह शांत होकर बैठ जाता है।

इन क्रियाओं को बन्द करने का सरल उपाय हैं – साधक सात्विक भोजन करे, मंत्रजाप ज्यादा से ज्यादा करे और दिन में तीन बार कठोरता के साथ प्राणायाम करे। इस प्रकार की मलिनता दूर करने के लिए भस्त्रिका प्राणायाम खूब करना चाहिये। जब साधक को थकान आ जाए, तब यह प्राणायाम बन्द करके थोड़ा-सा विश्राम कर ले, ताकि रक्तचाप ठीक हो जाए। फिर अनुलोम-विलोम प्राणायाम करना चाहिये, यह प्राणायाम बहुत ही लाभदायक है। इसमें आन्तरिक कुम्भक का ज्यादा महत्त्व है। इस प्रकार कुछ समय तक कठोरता के साथ संयमित

होकर यही नियम अपना ले, फिर ये क्रियाएँ होनी बन्द हो जाएँगी। गुरु को भी ऐसी अवस्था में साधक पर शक्तिपात करके क्रियाएँ रोकने में सहायता कर देनी चाहिये।

24. मृत्यु पर प्राणों के संयमन का प्रभाव

मनुष्य की जब मृत्यु होती है, उस समय उसे घोर कष्ट हो रहा होता है। ऐसा स्थूल शरीर को देखने से अनुमान लग जाता है। मनुष्य की मृत्यु एक बार में नहीं होती है; वह बार-बार मृत्यु की अवस्था के पास तक जाता है, फिर वापस आ जाता है। ऐसा उसके शरीर में स्थित प्राणों के कारण होता है। शरीर के अन्दर प्राण एक बार में खिंच कर एकत्र नहीं हो पाते हैं। जब मृत्यु आने वाली होती है, तब उसे आभास होने लगता है। उस समय उसकी आसक्ति और बढ़ जाती है। वह अपने परिवार के प्रति सोचता है – "अब ये सभी अपने छूट जाएँगे, मैं यह कार्य और कर लेता तो अच्छा होता, अपने पुत्र को यह सुविधा और कर जाता तो अच्छा रहता"। इस प्रकार की आसक्ति इतनी बढ़ जाती है कि मृत्यु में भी कुछ क्षणों के लिए अवरोध-सा आने लगता है, ऐसा इच्छा-शक्ति के कारण होता है। तब प्राण सही रूप से खिंचाव करके एकत्र होने की क्रिया नहीं कर पाते हैं। ऐसी अवस्था में प्राणों के कारण शारीरिक कष्ट तो होता ही है, आसक्ति के कारण मानसिक कष्ट भी होता है।

कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है किसी-किसी मनुष्य की बहुत समय तक मृत्यु वाली प्रक्रिया चलती रहती है जबकि किसी-किसी की शीघ्र मृत्यु हो जाती है। जिस मनुष्य में अधिक आसक्ति होती है, उसे मृत्यु के समय अधिक देर तक घोर कष्ट सहना होता है। कुछ वृद्ध पुरुषों को मैंने देखा है कि उनकी मृत्यु जब हो रही थी, तब बहुत कष्ट सहते रहे थे, फिर उन्हें मृत घोषित कर दिया गया। ब्राह्मण द्वारा विशेष प्रकार का कर्म-काण्ड कर दिया गया, मगर कुछ समय बाद वह फिर से जीवित हो गये। फिर दो महीने तक बड़े आराम से जीवन जीते रहे, इसके

बाद फिर उनकी मृत्यु हुई। एक स्त्री मृत्यु के समय अपने पुत्र को देखने की प्रबल इच्छा करती रही, उसकी इच्छाशक्ति इतनी बलवान थी कि वह मृत्यु के पास पहुँचकर भी जीवित बनी रही, ऐसा उसके साथ दो बार हुआ। उस स्त्री का लड़का जब कुछ दिनों बाद उसके पास आ गया, तब उसकी बड़े आराम से मृत्यु हो गयी। यह घटना सन् 1991-92 की है उस समय मैं मिरज आश्रम (महाराष्ट्र) में था। मेरे अन्दर एक सिद्धि बहुत ही तीव्र गति से कार्य कर रही थी, उस सिद्धि के द्वारा मैंने यह घटना देखी थी। यह घटना 2000 कि॰मी॰ दूर एक परिचित जगह में घट रही थी।

मृत्यु के समय इस प्रकार का कष्ट प्राणों और आसक्ति के कारण मिलता है। अगर मनुष्य अपने जीवन में प्राणों का संयमन करने का अभ्यास करता रहे, तो इस प्रकार के कष्टों से बचा जा सकता है। सच तो यह है कि वर्तमान में ज्यादातर मनुष्यों को प्राणों के संयमन के लाभ के बारे में मालूम नहीं होने के कारण इस ओर ध्यान नहीं देते हैं। अगर मनुष्य युवावस्था से लेकर अन्तिम समय तक प्राणायाम का अभ्यास सही रूप से कठोरतापूर्वक निरन्तर करता रहे, तो उसे बहुत बड़ा मानसिक और शारीरिक लाभ अवश्य प्राप्त होगा।

जिस मनुष्य ने अपने जीवन में लगातार कठोरता के साथ प्राणायाम किया है, अभ्यास की परिपक्वता पर उसके प्राण उसके अधिकार में होने लगते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि अभ्यासी जीवन जीने के लिये श्वास नहीं लेगा, वह सामान्य मनुष्यों की भाँति श्वास लेगा। मगर उसके शरीर को कम ऑक्सीजन में स्वस्थ रहने की आदत हो जाती है। अभ्यास के समय सम्पूर्ण शरीर में वायु शुद्ध होकर कार्य करती रहती है। मन में शुद्धता आने के कारण शान्ति मिलने लगती है तथा संसार से आसक्ति हटने लगती है। मृत्यु होने से पहले वह मृत्यु से सम्बन्धित संतुष्ट रहता है। वह जानता है कि मृत्यु निश्चित है, फिर उसमें दुःख की क्या बात है। ऐसे मनुष्य की मृत्यु के समय प्राण बहुत ही सरलता से हृदय की ओर जाकर एकत्र होने लगते हैं। मन में किसी प्रकार की ग्लानि और कष्ट नहीं होता है। हो सकता है ऐसी अवस्था में परिवार वाले दुःख व्यक्त कर रहे हों, मगर कुछ समय बाद मृत्यु को प्राप्त होने वाले मनुष्य को दुःख न

हो रहा हो। वह अपने परिवार वालों को समझाने लगेगा। मृत्यु के अन्तिम समय में क्षणिक देर के लिए कष्ट हो सकता है, मगर तभी उसका सूक्ष्म, शरीर स्थूल शरीर से सम्पर्क तोड़ लेता है। वासना देह में ऐसे मनुष्य बहुत समय तक नहीं रहते हैं, शीघ्र ही ऊर्ध्वगमन कर जाते हैं। प्राणों की शुद्धता का शरीर और मन पर मृत्यु के समय और मृत्यु के बाद बहुत ज्यादा प्रभाव रहता है।

जिन अभ्यासियों का प्राणायाम का अभ्यास बहुत ही ज्यादा है, ऐसे अभ्यासी के प्राण तो शुद्ध रहते ही हैं, इसके साथ-साथ शरीर के अन्दर के भी अंग व्यवस्थित ढंग से कार्य करते रहते हैं। इस कारण उस शरीर को बुढ़ापा भी देर में आता है और मृत्यु के समय को कुछ देर के लिए आगे की ओर ढकेल सकते हैं। ऐसे अभ्यासी को समाधि का भी अभ्यास होना चाहिये, तभी ऐसा कार्य कर पाना सम्भव होगा। प्राणायाम और समाधि के अभ्यास से ऐसी अवस्था आती है, तब उसका मन उसे अपने शरीर के अन्दर अनुभूत नहीं होता है, बल्कि उसे यह अनुभूति होती है कि उसका मन उसके स्थूल शरीर से दो-तीन फीट की दूरी पर स्थित है। यह अवस्था मात्र कुछ विरले अभ्यासियों को ही प्राप्त होती है। इस अवस्था को **महाविदेहावस्था** कहते हैं। उसे अपना स्थूल शरीर ऐसा लगता है, मानो यह मेरा शरीर नहीं है, मैं शरीर में नहीं हूँ, बल्कि मैं शरीर से दूर स्थित हूँ। जब पैदल चलता है तब उसे ऐसा लगता है – मैं अपने शरीर से बँधा हुआ, उससे एक मीटर की दूरी पर चल रहा हूँ। उस समय स्पष्ट अनुभूति होती है कि यह स्थूल शरीर एक माँस पिण्ड है। यह मिट्टी के खिलौने के समान अपने आप चल रहा है। उस अभ्यासी को अपने स्थूल शरीर के प्रति आसक्ति नहीं रह जाती है।

इस अवस्था को प्राप्त अभ्यासी को अपने शरीर के प्रति आसक्ति न रहने के कारण, मृत्यु का किसी प्रकार का भय नहीं रहता है। अगर उसके पास मृत्यु आ भी जाए तो उसकी मृत्यु सामान्य मनुष्य की भाँति नहीं हो सकती है, क्योंकि वह अपने आपको स्थूल शरीर से अलग मानता है। उसे सिर्फ इतनी अनुभूति होती है कि मेरा स्थूल शरीर से सम्पर्क है। यह अवस्था निश्चय ही उच्च और श्रेष्ठ होती है। मुझे यह अवस्था सन् 1996-97 में प्राप्त हुई थी, इसीलिए मुझे इस अवस्था के विषय में अच्छी तरह ज्ञात है। ऐसी अवस्था प्राणायाम के अभ्यास की

पराकाष्ठा के कारण प्राप्त होती है। ऐसी अवस्था वाले साधक पर सामान्य मनुष्य की भाँति मृत्यु अपना प्रभाव नहीं दिखा सकती है। ऐसा अभ्यासी मृत्यु को भी धोखा दे देगा। इसका अर्थ यह नहीं है वह मृत्यु को प्राप्त नहीं होगा। मनुष्य शरीर की मृत्यु होना निश्चित है। जब ऐसे अभ्यासी की मृत्यु आएगी, तो मृत्यु के समय साधक की भी अप्रत्यक्ष रूप से सहमति होती है।

इस अवस्था को प्राप्त साधक को मृत्यु के समय सामान्य मनुष्यों के समान कष्टों की अनुभूति नहीं होती है। वह अपने स्थूल शरीर से हल्के से कष्ट के साथ सम्पर्क तोड़ लेता है। फिर सूक्ष्म शरीर के द्वारा अपने लोक की ओर गति कर जाता है। अर्थात् ऐसे अभ्यासी आवश्यकता पड़ने पर कुछ समय के लिए मृत्यु को रोक सकते हैं। यह प्राणों के संयमन के कारण होता है। आदिकाल में ऋषि-मुनि कभी-कभी अपने प्राणों का संयमन करके योगाग्नि के द्वारा अपने स्थूल शरीर को जलाकर भस्म (राख का ढेर) कर देते थे। ऐसे संयमन का ज्ञान पहले तपस्वी, ऋषि, मुनि, योगी आदि जानते थे। वर्तमान समय में इस प्रकार का ज्ञान किसे प्राप्त होगा, मुझे भी मालूम नहीं है। यह विद्या गुप्त होने के कारण लुप्त हो गयी है।

पूर्वकाल का एक दृष्टान्त याद आ रहा है। ऋषि दधीचि ने देवताओं के कल्याण के लिए अपना स्थूल शरीर प्राणों की गति रोक कर त्याग दिया था, क्योंकि देवताओं को उनकी शरीर की हड्डियों की आवश्यकता थी। उनके शरीर की हड्डियाँ सामान्य मनुष्यों के भाँति नहीं थी, बल्कि उनकी हड्डियाँ विशेष प्रकार की दिव्यता को लेकर तेज से युक्त थी। ऐसा क्यों था, यहाँ पर लिखना उचित नहीं है। यह घटना पुराणों में पढ़ने पर मिल जाएगी। कुछ समय के लिए मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है, अर्थात् कुछ समय के लिए ऐसा किया जा सकता है। यह क्रिया सिर्फ उसी के साथ हो सकती है जिसकी मृत्यु सामान्य रूप से होने वाली है। अगर किसी की मृत्यु दुर्घटना के द्वारा, शरीर में आग लगाकर, अथवा शरीर में किसी प्रकार से हानि पहुँचाई गयी है, फिर उसे नहीं बचाया जा सकता है।

25. प्राणायाम के द्वारा सर्दी और गर्मी का न लगना

अधिक प्राणायाम करने पर शरीर के अन्दर गर्मी की अनुभूति होने लगती है। गर्मियों के दिनों में तो प्राणायाम करते समय बहुत परेशानी होने लगती है क्योंकि उन दिनों गर्मी बहुत अधिक लगती है। प्राणायाम करते समय जब आन्तरिक कुम्भक करते है, तब ऐसा लगता है कुम्भक का अभ्यास करना बन्द कर दें, क्योंकि प्राणों को रोकने के कारण घबराहट होती है तथा शरीर के अन्दर गर्मी अधिक बढ़ जाने के कारण परेशानी होने लगती है। इसलिए गर्मियों के दिनों में आन्तरिक कुम्भक की अवधि कम हो जाती है। सर्दियों के दिनों में प्राणायाम करने पर आराम मिलता है, क्योंकि उस समय शरीर पर सर्दी का प्रभाव कम होने लगता है। जब आन्तरिक कुम्भक लगाया जाता है, उस समय गर्मियों के दिनों के समान परेशानी नहीं होती है। बल्कि ज्यादा समय तक कुम्भक का अभ्यास किया जाता है। वायु तत्त्व का सिद्धान्त भी है कि जिस स्थान पर वायु को भरकर दबाव दिया जाएगा, दबाव के अनुसार तापमान बढ़ने लगेगा।

अब मैं ऐसी बात लिख रहा हूँ जिसे पढ़कर जल्दी से यकीन नहीं होगा। साधक जब **महाविदेहावस्था** को प्राप्त होता है, उस समय साधक अगर प्राणायाम का अभ्यास कई वर्षों से करता चला आ रहा है और उसके आन्तरिक कुम्भक की अवधि तीन मिनट अथवा इससे अधिक है, तब उसे ऐसी अवस्था प्राप्त होती है कि चाहे उस समय मई-जून का समय हो, फिर भी उसे गर्मी की अनुभूति नहीं होगी। **महाविदेहावस्था** के समय साधक अपने आपकी अपने स्थूल शरीर में अनुभूति न करके शरीर से 2-3 फीट की दूरी पर अनुभूति करता है। ऐसा लगता है वह स्थूल शरीर में नहीं है। स्थूल शरीर अपने आप चल रहा है, अपने आप क्रिया कर रहा है, मैं उससे दूर अलग अनुभूति करता हूँ आदि।

ऐसी अवस्था में अगर वह मई-जून के महीने में भी धूप में चलेगा, तब भी तेज धूप का प्रभाव अभ्यासी पर नहीं पड़ेगा। सच तो यह है कि तेज धूप की उसे अनुभूति ही नहीं होती है। अगर लू चल रही हो और लू उसके शरीर पर थपेड़े मार रही हो, तो भी गर्म वायु चलने की उसे अनुभूति नहीं होती है। इसका कारण यह होता है – प्राणायाम का बहुत ज्यादा अभ्यास करने के कारण उसके शरीर के अन्दर का तापमान इतना बढ़ जाता है कि फिर उस पर बाहर के तापमान का प्रभाव ही नहीं पड़ता है। सिर के अन्दर भी गर्मी सी भरी रहती है। उस समय साधकों को बोलने की इच्छा नहीं होती है। वह अन्तर्मुखी हुआ सदैव चुप बना रहता है। उसके शरीर की त्वचा अनुभूति करना बन्द कर देती है। इसलिए वायु के स्पर्श की उसे अनुभूति नहीं होती है। अर्थात् त्वचा नाम की इन्द्रिय इस अवस्था में अन्तर्मुखी होने के कारण स्पर्श की अनुभूति नहीं कर पाती है। **महाविदेहावस्था** के कारण स्थूल शरीर की अनुभूतियाँ स्वयं नहीं कर पाता है। वह अभ्यासी पेड़ों को देखकर अनुमान लगाता है कि वायु चल रही है। यह अवस्था बहुत ही विचित्र सी होती है। बहुत सी बातें भूल जाता है। उसके सामने कोई घटना घट भी जाए, तो भी उसे ज्ञात नहीं रहता है। यह मेरी स्वयं की अनुभूति है।

मुझे याद आ रहा है – सन् 1997-1998 की बात है। उस समय मैं कठोर अभ्यास कर रहा था। मैं दिन में पाँच बार प्राणायाम अत्यन्त कठोरता के साथ करता था। हमारा एक बार का कुम्भक तीन मिनट से ज्यादा का हो जाता था तथा एक बार में 12 प्राणायाम करता था। भोजन के नाम पर सूखी रोटी खाता था। रोटी के साथ नमक, गुड़, चीनी, सब्जी, दाल आदि नहीं लेता था। दोपहर में एक बार ही खाता था और ध्यान ही करता रहता था। उस समय मुझे यह अवस्था प्राप्त हुई थी। तब मुझे बड़ा आश्चर्य लगता था और अनुभूति होती थी कि हमारा स्थूल शरीर माँस पिण्ड का बना हुआ है। वह अपने आप चल रहा है। तेज धूप की अनुभूति न होने के कारण शरीर की त्वचा काली पड़ने लगी थी। चलती हुई वायु की अनुभूति नहीं होती थी। जब मैं पेड़ों की डालियाँ हिलती हुई देखता था, तब मालूम पड़ता था कि वायु चल रही है। यह स्थूल शरीर मुझे अपना नहीं लगता था। ऐसी अवस्था में अगर कोई मुझसे बोलता था तब मैं चुप रहता था। अगर कोई मुझे बोलने पर मजबूर करता था, तब मुझे झुंझलाहट होने लगती थी।

ऐसी अवस्था मेरी बहुत समय तक बनी रही। फिर मैंने अपना अभ्यास थोड़ा कम कर लिया था तथा भोजन भी करने लगा था। तब भोजन करने के कारण जड़ता और अशुद्धता बढ़ने लगी, इसीलिए इस अवस्था में धीरे-धीरे कमी आने लगी। प्राणायाम का अगर बहुत ज्यादा अभ्यास किया जाए, तब कई वर्षों तक अभ्यास करने के बाद सर्दी और गर्मी का प्रभाव उस पर कम पड़ने लगता है। साधक को यह अवस्था उच्चावस्था में प्राप्त होती है। यह अवस्था सभी साधकों को प्राप्त नहीं होती है, विरले साधकों को ही यह अवस्था प्राप्त होती है।

भाग-3

प्राणों को शुद्ध कैसे रखें

हर किसी मनुष्य के सामने प्रश्न उठता है कि वह अपने प्राणों को शुद्ध कैसे रखे अथवा प्राणों को शुद्ध कैसे करे। मैं पहले लिख चुका हूँ कि प्राणों में जब अशुद्धता की मात्रा बढ़ जाती है, तब वे अनियमित ढंग से कार्य करने लगते हैं। उसके प्रभाव से शरीर में विभिन्न प्रकार की परेशानियाँ आने लगती हैं अर्थात् शरीर किसी न किसी रोग से ग्रसित होने लगता है तथा समय से पहले वृद्धावस्था आ जाती है। इसीलिए कहा जाता है कि मनुष्य का सबसे बड़ा सुख है उसका शरीर निरोगी होना अर्थात् निरोगी शरीर वाला मनुष्य सुखी माना गया है। शरीर को निरोगी रखने के लिए कुछ नियमों का पालन अवश्य करना पड़ेगा तभी यह शरीर निरोगी रह पायेगा। हम किसी भी रोग के मूल में जाएँ, तो यही जानकारी मिलेगी कि शरीर का अमुक अंग सही ढंग से कार्य नहीं कर पा रहा है अथवा वह अंग खराब हो गया है। इस प्रकार के खराब अंगों को सही बनाये रखने में और उसे पुष्ट बनाने में प्राणवायु ही कार्य करती है। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि प्राणवायु को शुद्ध बनाये रखा जाए।

इस प्राणवायु को शुद्ध-अशुद्ध बनाये रखने में भोजन महत्त्वपूर्ण होता है। मनुष्य जिस प्रकार का भोजन करेगा, उसी प्रकार का उसका प्राण बनेगा। भोजन अगर शुद्ध सात्विक है तब भोजन के प्रभाव से प्राणों में शुद्धता आने लगेगी। अगर भोजन तामसिक है तब भोजन का प्राणों पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा, तब प्राणों में तमोगुण के कारण अशुद्धता आने लगेगी। इसीलिए भोजन पर हर मनुष्य को ध्यान देना चाहिये क्योंकि ज्यादातर मनुष्यों की आदत स्वादिष्ट भोजन करने की हो जाती है। स्वादिष्ट भोजन में वह कुछ भी खाने लगते हैं अर्थात् बहुत ज्यादा तला हुआ व मिर्च-मसाले वाला भोजन ज्यादा पसन्द करते हैं। ऐसा भोजन देर में पचता है तथा अधिक तला होने के कारण आँतों की पाचन क्रिया में रुकावट आने लगती है। भोजन का निकला हुआ रस सोखने में आँतों को कठिनाई होती है तथा आँतें पौष्टिक तत्वों को सही प्रकार से सोख नहीं पाती हैं। इससे पौष्टिक तत्त्व बाहर निकल जाते हैं। बहुत समय तक तला हुआ भोजन करने से आँतों के अन्दर की परत के चारों ओर विशेष प्रकार का लेप-सा

चढ़ने लगता है, जिसमें भविष्य में आँतें सही ढंग से कार्य नहीं कर पाती हैं। फिर भोजन पचने में परेशानी आने लगती है। इसका प्रभाव प्राणों पर भी पड़ता है। इसलिए अच्छा है कि सभी को सात्विक और सुपाच्य भोजन करना चाहिये। ताकि आँतों की कार्य-प्रणाली सही ढंग से कार्य करती रहे। इसीलिए तमोगुण प्रधान भोजन से सदैव बचना चाहिये। ऐसा भोजन शरीर को नुकसान पहुँचाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं देता है।

मनुष्यों को नशीले पदार्थों के सेवन से बचना चाहिये। आजकल बहुत से व्यक्ति बीड़ी-सिगरेट पीते रहते है। ऐसे व्यक्तियों की सोच होती है – "बीड़ी-सिगरेट पी ली तो क्या फर्क पड़ता है? अमुक व्यक्तियों को देखो, कितने वर्षों से पी रहा है। उसे तो कोई फर्क नहीं पड़ा है। बीड़ी और सिगरेट पीने से शरीर में ताजगी आ जाती है, थकान मिट जाती है"। मगर ऐसा नहीं होता है। सत्य तो यह है कि तम्बाकू के धुएँ के द्वारा निकोटिन के कण रक्त में मिल जाते हैं। फिर रक्त में एक प्रकार की उत्तेजना-सी आ जाती है। तब सिगरेट पीने वाले को ऐसा लगता है जैसे ताजगी आ गयी है। इस प्रकार से शरीर में दुष्प्रभाव पड़ता है। फेफड़े तो खराब होते ही हैं, प्राणवायु बहुत ही ज्यादा दूषित हो जाती है, जो साधक के लिए अभ्यास में सर्वथा अवरोध का कार्य करेगी। आजकल विभिन्न प्रकार के नशीले पदार्थ बाजार में उपलब्ध हैं। इनका सेवन बिल्कुल भी नहीं करना चाहिये। बहुत से बाबा लोग चिलम पीने का कार्य करते हैं और उनका कहना होता है – "यह तो भगवान शंकर भी पिया करते थे। इसे पीकर समाधि बहुत ही जल्दी लगने लगती है।" सच तो यह है कि चिलम पीना बहुत ही घातक होता है। इसके नशे से मस्तिष्क पर भारी दुष्प्रभाव पड़ता है। ऐसे लोग नशे की अवस्था को ही समाधि समझ लेते हैं। ऐसे बाबाओं से सदैव दूर रहना चाहिये क्योंकि चिलम का धुआँ वातावरण को भी प्रदूषित कर देता है। जो भी मनुष्य उस प्रदूषित वातावरण में श्वास लेगा, उस पर भी चिलम के धुएँ का प्रभाव पड़ेगा। ऐसे लोग समाज में नशा रूपी गन्दगी फैलाते रहते हैं।

बड़े दुःख की बात है कि बहुत से लोग भगवान शंकर के लिए कहते रहते हैं – "भगवान शंकर चिलम पिया करते हैं, भांग और धतूरा खाया करते हैं, शरीर में राख लगाए रखते हैं,

श्मशान में रहते हैं आदि। मेरे जैसे योगियों को बहुत बुरा लगता है, क्योंकि इन्हें भगवान शंकर के विषय में सही ढंग से मालूम नहीं है। ऐसा कहने वाले लोग नशीले पदार्थों का सेवन करने वाले तामसी प्रवृत्ति के होते हैं। नशीले पदार्थों को कोई भी बुद्धिमान व सात्विक मनुष्य अच्छा नहीं कहेगा। समाज के बहुत से समझदार मनुष्य इन नशीले पदार्थों को स्वीकार नहीं करते हैं। इन्हें कोई गलत न कहे, इसलिए मात्र कुछ लोगों के समुदाय ने नशीले पदार्थों को धर्म से जोड़ दिया है। ऐसा अपने बचाव के लिए कहते हैं। इसी प्रकार ऐसे लोगों ने समाज में प्रचार किया हुआ है कि भगवान शंकर धतूरा खाया करते थे। धतूरा उन्हें बहुत पसन्द था, इसलिए उनकी पूजा करते समय कुछ लोग शिवलिंग पर धतूरा चढ़ाते हैं। ऐसी आस्था रखने वालों से तथा पूजा में धतूरा चढ़ाने वालों से पूछा जाए – क्या तुम भी धतूरा खा सकते हो? अगर नहीं खा सकते तो अपने इष्ट को ऐसा फल क्यों चढ़ाते हो? तुम एक मनुष्य होकर सेब, आम, केले आदि फल पसन्द करते हो, मगर भगवान शंकर तो इस सृष्टि के नायक है, उनकी उत्पत्ति परम् शिव के द्वारा हुई है अथवा परम् शिव से प्रकट होने के कारण उनका चित्त भी परम पवित्र और सत्वगुण की प्रधानता से युक्त है, तब वह ऐसी गन्दी वस्तुओं को ग्रहण करेंगे क्या? वे आकाश तत्त्व की प्रधानता से प्रकट हुए हैं और सृष्टि के व्यवस्था के कार्य में सहयोग करते हैं, क्या वह नशीले पदार्थों का सेवन कर सकते हैं? ऐसा प्रचलन समाज में कब से आया है कि भगवान शंकर को तामसिक गुणों वाला बना दिया गया, मुझे नहीं मालूम है। वैसे पढ़ने में बहुत-सी पुस्तकों में ऐसा लिखा मिल जाएगा, यह मुझे मालूम है।

हमारे समाज में एक रिवाज है – जब किसी से मिलते हैं, तब आपस में हाथ मिलाते हैं और कुछ क्षणों तक एक-दूसरे को पकड़े रहते हैं। जो अपना अधिक नजदीकी अथवा प्रेमी होता है, उसके गले भी मिलते हैं। फिर कुछ क्षणों तक उससे चिपके रहते हैं। इस प्रकार की दोनों अवस्थाओं में परस्पर प्रेम की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् इस प्रकार से प्रेम से ही मिलते हैं। इस प्रकार से मिलने-जुलने में सामाजिक दृष्टि से प्रेम और एक-दूसरे के प्रति सम्मान देना होता है। मगर आध्यात्मिक दृष्टि से अशुद्ध आचरण वाले व्यक्ति से इस प्रकार से मिलने का नकारात्मक प्रभाव भी होता है। इसलिए अपनी शुद्धता बनाए रखने के लिए इस प्रकार के

व्यवहार से बचना चाहिये। यह साधक के लिए अति आवश्यक है। मैं यह नहीं कहता हूँ कि दूसरे का सम्मान न करो। दूसरे का सम्मान करना चाहिये क्योंकि हमारे समाज में एक-दूसरे का सम्मान करना पूर्वजों से विरासत में मिला हुआ है और यही श्रेष्ठ भी है। मगर इस प्रकार की क्रिया से एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है।

जब कोई व्यक्ति दूसरे से हाथ मिलाता है अथवा गले मिलता है तब एक-दूसरे के शरीर की प्राणवायु का प्रभाव शरीर के अन्दर प्रवेश कर जाता है। मैं पहले लिख चुका हूँ कि मनुष्य के शरीर की सभी उँगलियों के अग्र भाग से विशेष प्रकार की किरणें निकलती रहती हैं। मनुष्य का स्वभाव व कर्माशयों के अनुसार ही उसके शरीर से किरणें निकलती हैं। अगर मनुष्य अधर्म से युक्त कर्म करने वाला है अर्थात् झूठ बोलना, चोरी करना, दूसरे को ठगना, अकारण दूसरे की निन्दा करना, अधर्म का सहारा लेकर धन कमाना, चरित्रहीन होना, तामसिक भोजन करना, आदि, तो उसके शरीर में स्थित प्राणवायु सदैव अशुद्ध रहती है। इस प्रकार की प्राणवायु वाले शरीर से सदैव दूषित गन्दी किरणें ही निकलती रहती हैं। यदि मनुष्य सत्वगुण से युक्त कर्म करने वाला है तथा अध्यात्म में रुचि लेता है, अपने ही परिश्रम की कमाई का प्रयोग जीवन में करता है, सत्य को बोलने वाला है, चरित्रवान है, चोरी नहीं करता है, सदैव सात्विक भोजन करता है, तामसिक भोजन त्याज्य है, दूसरों का सम्मान करता है आदि, इस प्रकार के गुणों वाले मनुष्यों की प्राणवायु शुद्ध रहती है। इनके शरीर के द्वारा निकलने वाली किरणें सदैव स्वच्छ और तेजस्वी होती हैं। ऐसे मनुष्यों का जीवन जीने का तरीका बहुत ही अच्छा होता है।

जब आपस में हाथ मिलाया जाता है, तब शरीर से निकलने वाली किरणें एक-दूसरे के अन्दर चली जाती हैं। ऐसी अवस्था में निम्न श्रेणी का जीवन जीने वाले को तो लाभ होता है, मगर उच्च श्रेणी का जीवन जीने वाले मनुष्य को घाटा होता है। घाटा इस प्रकार से होता है कि दूसरे मनुष्य के शरीर की गन्दगी उसके शरीर में आ जाती है तथा उसके शरीर की शुद्ध व श्रेष्ठ प्राणवायु दूसरे के शरीर में चली जाती है, इससे दूसरा मनुष्य लाभ में रहता है। मगर इस क्रिया को दूसरा मनुष्य समझ नहीं पाता है। इससे मनुष्यों के जीवन में बहुत बड़ा फर्क आता है क्योंकि

दुष्ट स्वभाव वाले मनुष्य के कर्म इसी प्रकार से दूसरे मनुष्य के अन्दर चले जाते हैं। जिस मनुष्य के अन्दर दुष्टता वाले कर्म चले जाते हैं, ये कर्म कुछ समय बाद प्रभावित करने लगते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि किसी भी रोगी से इस प्रकार से नहीं मिलना चाहिये, नहीं तो रोगी के कुछ कर्माशय उसके शरीर में आ जाएँगे। इस प्रकार के व्यवहार से बचना चाहिये।

साधक इस प्रकार के व्यवहार में रुचि न दिखाए और जानबूझकर स्पर्श न करे। यदि बाजार में, भीड़ में या यात्रा के समय दूसरे मनुष्य का शरीर स्पर्श कर रहा है तब मन के अन्दर मंत्र का जाप अथवा ईश्वर का स्मरण करते रहना चाहिये क्योंकि समाज में रहकर इस प्रकार की प्रतिकूलता सहनी ही पड़ेगी, इससे कोई पूरी तरह बच नहीं सकता है। ऐसी अवस्था में जितना अपने आप को बचा सके, उतना बचाना चाहिये। जिन साधकों की कुण्डलिनी ऊर्ध्व हो रही है, उन्हें इस संयम का पालन अवश्य करना चाहिये क्योंकि कुण्डलिनी ऊर्ध्व होने वाले साधकों के शरीर से ऊर्जा बहुत ज्यादा मात्रा में निकलती है। इसलिए वह दूर से ही दूसरे को नमस्कार या प्रणाम कर ले। अगर ऐसा साधक किसी दूसरे से हाथ मिलायेगा तो उसे स्पष्ट रूप से समझ में आयेगा कि दूसरे के हाथ से उसके अन्दर गन्दगी आ रही है। मगर सामान्य मनुष्य यह सब नहीं समझ पायेगा।

प्राणों की शुद्धता और अशुद्धता मनुष्य के जीवन को प्रभावित करती है। प्राणों की शुद्धता होने पर मन में भी शुद्धता आती है तथा चित्त में भी शुद्धता बढ़ने लगती है। मन की शुद्धता बढ़ने पर उस साधक की चंचलता, संकीर्णता व आलस्य आदि समाप्त होने लगते हैं। अशुद्ध मन में चंचलता बढ़ जाती है व आलस्य भी बढ़ जाता है। अशुद्ध मन वाला सदैव अधर्म से युक्त बातें सोचेगा क्योंकि अशुद्ध मन वाले के अन्दर इसी प्रकार के विचार आने लगते हैं तथा संसार में लिप्त हुआ अपने आप में अच्छाइयाँ और दूसरे में बुराइयाँ देखेगा। जबकि शुद्ध मन वाले मनुष्य के अन्दर इस प्रकार के विचार नहीं आते हैं। वह सदैव धर्म से युक्त हुआ श्रेष्ठ विचारों से युक्त रहता है क्योंकि उसका चित्त शुद्ध रहता है। इसलिए वह अध्यात्म में रुचि लेने वाला तथा ईश्वर परायण रहता है। अशुद्ध मन वाला सदैव अध्यात्म से विमुख व ईश्वर

विरोधी रहता है। वह किसी का अच्छा नहीं सोच सकता है। वह अपनी दृष्टि में अपने को श्रेष्ठ समझता रहता है तथा दूसरे मनुष्यों को गलत समझता हुआ निन्दा करता रहता है। जबकि वह स्वयं निन्दा के योग्य है।

शुद्ध प्राणों वाले मनुष्यों को साधना मार्ग में सफलता शीघ्र मिलना शुरू हो जाती है। सफलता का कारण उसके चित्त पर स्थित कर्माशय ही हैं। पुण्य से युक्त कर्माशयों वालों को निश्चय ही किसी भी कार्य में ज्यादातर सफलता मिलनी शुरू हो जाती है क्योंकि प्राणों की जितनी ज्यादा शुद्धता होगी, चित्त में उतनी ही ज्यादा निर्मलता होती है। इससे चित्त की अशुद्धता जलती रहती है अथवा ठहरती नहीं है। अशुद्ध प्राणों के समय चित्त में भी मलिनता बढ़ जाती है। मलिन चित्त वाला मनुष्य कभी भी अच्छे कर्म करने में विश्वास नहीं रखता है, क्योंकि अधर्म में लिप्त रहता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को प्राणों की शुद्धता पर अवश्य ध्यान देना चाहिये।

प्राणों को शुद्ध बनाने के लिए प्राणायाम करना चाहिये। प्राणायाम एक ऐसा अभ्यास है जिसका सीधा प्रभाव प्राणों पर पड़ता है। अशुद्ध प्राण शीघ्रता से शुद्ध होने लगता है। प्राणायाम कई प्रकार से किया जाता है। अभ्यास करने का तरीका किसी कुशल मार्गदर्शक से सीखना चाहिये। पहले कुछ समय तक उसी के सामने अभ्यास करना चाहिये। फिर आप अपने घर में भी प्राणायाम का अभ्यास कर सकते हैं। सही ढंग से प्राणायाम करने से अभ्यासानुसार धीरे-धीरे प्राणों में शुद्धता आने लगती है। प्राणायाम का अभ्यास जीवनपर्यन्त करते रहना चाहिये। ऐसा न सोचें कि मैंने इतने वर्षों तक प्राणायाम का अभ्यास किया है, मेरे प्राण शुद्ध हो गये हैं, अब हमें और अभ्यास करने की क्या आवश्यकता है! मैं बता दूँ – अगर प्राणों को निरन्तर शुद्ध नहीं किया जाएगा, तो प्राण अशुद्ध हो जाएगा क्योंकि भोजन के द्वारा, प्रदूषण के द्वारा, भीड़-भाड़ के जगहों पर जाकर, अशुद्धता के द्वारा, हाथ मिलाने के द्वारा, शरीर का किसी भी प्रकार से स्पर्श के द्वारा (यात्रा के समय) प्राणों में अशुद्धता आती रहती है।

आजकल अक्सर नवयुवकों के विषय में बहुत-सी घटनाएँ सुनने को मिलती है कि अमुक युवक ने लड़की के साथ अभद्र व्यवहार किया। कभी-कभी कुछ लड़के समूह बनाकर लड़कियों के साथ अभद्रता करते हैं। इससे समाज में गलत सन्देश जाता है। बहुत से नवयुवक कामवासना से पीड़ित रहते हैं। इन सबका कारण है – ऐसे युवकों के चित्त मलिन रहते हैं, मलिन चित्त वाले युवकों को वासनाएँ बहुत प्रभावित करती हैं। ऐसे युवक अपने प्राणों का संयमन करके कुछ सीमा तक कामवासना पर अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। कठोर प्राणायाम के द्वारा कामवासना से सम्बंधित संस्कारों पर तमोगुण और रजोगुण का प्रभाव कमजोर होने लगता है। तमोगुण कम होने पर संस्कारों में स्वच्छता आने लगती है अर्थात् तमोगुण की मात्रा घटने पर सत्वगुण की मात्रा बढ़ने लगती है तथा रजोगुण भी कम होने लगता है। इससे उन संस्कारों के प्रभाव की आक्रामकता घटने लगती है। जिन मनुष्यों के अन्दर कामवासना का प्रभाव अधिक रहता है, उन्हें अपने प्राणों को संयमित बनाये रखना चाहिये। प्राणों की शुद्धता होने पर इस प्रकार के नकारात्मक विचार प्रकट नहीं होते हैं। वैसे कामवासना के संस्कार वृद्धावस्था तक प्रभावित करते रहते हैं क्योंकि इस प्रकार के संस्कार चित्त में गहराई तक विद्यमान रहते हैं। ये प्राणायाम के द्वारा पूर्णरूप से नष्ट नहीं किये जा सकते हैं, मगर कमजोर अवश्य किये जा सकते हैं।

प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी प्राणवायु को बराबर शुद्ध करता रहे। इससे कामवासना के विचार उठने बन्द होने लगते हैं। जिसके अन्दर अनावश्यक रूप से कामवासना की पूर्ति की इच्छा चलती रहती है तथा इच्छा की पूर्ति के लिए कुछ मनुष्य प्रयास करने लगते हैं, ऐसे निम्न श्रेणी के विचारों वालों मनुष्यों को कठोरता के साथ आन्तरिक कुम्भक और बाह्य कुम्भक लगाने का अभ्यास करते रहना चाहिये। इस विधि को किसी कुशल अभ्यासी से सीख लेना चाहिये तथा उड्डियान बन्ध लगाने का अभ्यास करते रहना चाहिये। आध्यात्मिक पुस्तकों का अध्ययन करे, संगत सदैव अच्छी करनी चाहिये। भोजन पूर्णरूप से सात्विक करना चाहिये तथा दिन में कठोरता के साथ पाँच बार प्राणायाम करे। प्राण जितना ज्यादा शुद्ध रहेगा,

उतने ही कम बुरे विचार आएँगे। इससे उसका जीवन भी श्रेष्ठता में व्यतीत होगा क्योंकि विचारों के अनुसार ही मनुष्य अपना जीवन जीने का प्रयास करता है।

प्राणों को शुद्ध रखने के लिए प्राणायाम के साथ-साथ ब्रह्मचर्य पालन करने का भी अभ्यास करना चाहिये। ब्रह्मचर्य मनुष्य के प्राण शुद्ध रहने में सहायक होता है क्योंकि ब्रह्मचर्य का अभ्यास करने वाले का मन भी सशक्त रहता है। जो ब्रह्मचारी नहीं रहता है, उसके विचार भी निम्न श्रेणी के प्रकट होने लगते हैं। ऐसे विचार वालों का मन बहुत कमजोर रहता है। कमजोर मन वाला देखने में भले ही बलिष्ठ दिखाई दे, मगर वह अन्दर से कमजोर होने के कारण कठोर निर्णय नहीं ले सकता है, क्योंकि वह अन्दर से डरा-सा रहता है। उसे अपने आप पर विश्वास नहीं होता है कि वह अमुक कार्य कर पायेगा अथवा नहीं कर पायेगा। जो मनुष्य ब्रह्मचर्य का जितना पालन करता है, उतना ही ज्यादा उसका मन दृढ़ व निश्चयी होता है। मन से बलिष्ठ हुआ मनुष्य अपने जीवन में सफल रहता है। आप सोच सकते है कि ब्रह्मचर्य का प्राणों से क्या लेना देना है? ब्रह्मचर्य का प्राणों से सीधा सम्बन्ध होता है। ब्रह्मचारी मनुष्य के प्राणों की गति धीमी व दीर्घ होती है। ऐसे अभ्यासी के फेफड़ों का ज्यादा भाग गहरे श्वास लेने के कारण क्रियाशील रहता है। इससे रक्त शुद्ध होकर अन्तिम स्थान तक सुगमता से पहुँचता रहता है। प्राणों में स्फूर्ति अधिक रहती है। उसकी स्मृति भी सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा ज्यादा रहती है। जो अभ्यासी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते हैं, उनमें से ज्यादातर बुरे विचारों को अपने अन्दर लिए पता नहीं क्या-क्या सोचते रहते हैं। फिर दूर से ही स्त्रियों और लड़कियों को देखते रहते हैं। ऐसे मनुष्य निम्न श्रेणी का जीवन जीते रहते हैं। गन्दी सोच रखने वालों के साँसों की गति हल्की होती है। इससे उनके जीवन ही नहीं बल्कि शरीर पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता है। जब तक ऐसे मनुष्यों की उम्र कम रहती है तब तक बाहर से उनका शरीर युवावस्था के कारण नया सा दिखाई देता है। फिर 40 वर्ष की उम्र के बाद अन्दर और बाहर से बुढ़ापा आने लगता है। चेहरे पर झुर्रियाँ सी दिखाई देने लगती है। ब्रह्मचारी मनुष्य 60 वर्ष की उम्र में भी युवा सा दिखाई देता है तथा निरोगी रहता है, क्योंकि ऊर्ध्वरेता पुरुष का मस्तिष्क अच्छी तरह से सक्रिय रहता है। स्थिर मन वाला तथा संयमी होता है। इसलिए ऐसे मनुष्य को अध्यात्म के मार्ग पर सफलता

मिलती रहती है। जिसका इन्द्रिय संयम नहीं है ऐसा मनुष्य इन्द्रियों का दास हुआ निम्नता का जीवन जीता रहता है।

प्राणों की शुद्धता के लिए सुबह के समय ऐसी जगह पर प्राणायाम करें, जहाँ पर पेड़-पौधे अधिक हो अथवा खुलापन हो, वहाँ पर ऑक्सीजन ज्यादा मात्रा में प्राप्त होती है। कभी भी ऐसी जगह पर प्राणायाम न करे, जहाँ पर शुद्ध वायु न आती हो। बन्द जगह में जहाँ घुटन सी हो, वहाँ पर प्राणायाम न करे। जहाँ पर अधिक प्रदूषित वायु हो वहाँ पर प्राणायाम न करें। सुबह के समय वातावरण में प्रदूषण कम होता है, इसलिए यह समय प्राणायाम के लिए ज्यादा अनुकूल है। ज्यादा रात्रि हो जाने पर प्राणायाम न करें।

जो अभ्यासी यम-नियम का पालन करते हैं, उसके शरीर के अन्दर प्राणवायु की शुद्धता सामान्य से ज्यादा रहती है, क्योंकि यम-नियम के पालन में सभी प्रकार से श्रेष्ठता की ओर ले जाने के संयम बताए गये हैं। इसका मन और चित्त पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इससे मन और चित्त शीघ्रता से शुद्ध होने लगता है। आजकल यम-नियम का पालन करना बहुत ही मुश्किल भरा कार्य है। इसका पालन करना गृहस्थों के लिए तो और भी मुश्किल है। मगर ऐसा भी नहीं है कि इसका पालन न हो सके। वर्तमान समय में हर मनुष्य सुख-सुविधाओं से युक्त होना चाहता है। सभी लोग धनी बनना चाहते हैं, इसके लिए ज्यादातर मनुष्य गलत ढंग से धन प्राप्त करने की कोशिश करते रहते हैं। जब तक ईमानदारी नहीं त्यागेगा, तब तक अत्यधिक धनी बनना बहुत मुश्किल है। इसके लिए लोग असत्य का भी सहारा लेते हैं, कभी-कभी दूसरों से अकारण जबरदस्ती का प्रयोग भी करते हैं क्योंकि उनके पास संतोष नाम की चीज नहीं होती है कि अपने आप में संतुष्ट रहें। सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करने में इतने व्यस्त रहते है कि उनके पास ईश्वर का नाम लेने के लिए समय ही नहीं है। वे सोचते हैं – ईश्वर कहाँ है, आज तक किसी ने देखा है, कोई मुझे दिखाये तब मानूँगा कि ईश्वर होता है, अगर ईश्वर होगा तो कौन सा मुझे खाने को दे देगा आदि। जो साधक इस आध्यात्मिक मार्ग में लगे हुए है, उनका उपहास उड़ाते रहते हैं। ऐसा स्वभाव ज्यादातर मनुष्यों में देखने को मिल जाता है। जिनकी सोच में निम्नता होती है

उसके अन्दर श्रेष्ठता कहाँ से आएगी? इस श्रेणी के मनुष्यों के अन्दर तमोगुण और रजोगुण की मात्रा ज्यादा होने के कारण चित्त में मलिनता बनी रहती है। मलिन मन वालों की प्राणवायु भी निश्चित रूप से अशुद्ध ही होती है। जो यम-नियम का पालन करते हैं, वे निश्चय ही श्रेष्ठ पुरुषों में आते हैं। ऐसे मनुष्य ही अध्यात्म के मार्ग पर चलने के अधिकारी होते हैं। इन्हीं साधकों का मार्ग प्रशस्त होता है और वे आगे चलकर उच्चावस्था को प्राप्त करते हैं। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य को यम-नियम का पालन अवश्य करना चाहिये।

कुछ अभ्यासी बहुत ही ज्यादा प्राणायाम का अभ्यास करते रहते हैं। उनका कहना होता है – मैं बहुत समय से प्राणायाम का अभ्यास कर रहा हूँ, मगर उन्हें इससे लाभ नहीं मिलता है। ऐसे अभ्यासियों के लिए मैं यही कहूँगा कि अभ्यास करने में कहीं-न-कहीं अवश्य त्रुटि हो रही होगी। ऐसा नहीं होता है कि प्राणायाम का अभ्यास करे और प्राणों पर किसी प्रकार प्रभाव ही न पड़े। जिन अभ्यासियों के चित्त पर अधिक मलिनता चढ़ी रहती है, उन्हें बहुत दिनों तक अभ्यास करने पर ही प्रभाव पड़ता है। ऐसी अवस्था में प्राणायाम का प्रभाव चित्त पर तो पड़ता है मगर मलिनता अधिक होने के कारण उस पर शीघ्र असर नहीं जान पड़ता है, क्योंकि मलिनता की परत मजबूती से जमी रहती है। ऐसा तभी होता है जब अभ्यासी पूर्वकाल में (पूर्व जन्म में) अधर्म से युक्त कर्म कर चुका है, स्थूल पदार्थों में आसक्ति बहुत ज्यादा बनी हुई है, तृष्णा व ईर्ष्या से युक्त होकर जीवन जी रहा है। ऐसी अवस्था में चित्त का ज्यादा मात्रा में मलिन होना आवश्यक है। वर्तमान जन्म में भी उसने मोह व अज्ञानता से युक्त होकर तमोगुणी कर्म किये हैं। ऐसी अवस्था में कर्माशय भी तमोगुण से युक्त ही बनते रहते हैं। इनमें सत्वगुण की मात्रा भी बहुत ही कम रहती है तब अभ्यासी को अपना चित्त स्वच्छ करने में बहुत समय लग जाता है। ऐसे अभ्यासी को धैर्यपूर्वक अभ्यास में लगे रहना चाहिये। वह ऐसा न समझे कि उसका प्राण शुद्ध नहीं हो रहा है। शुद्धता धीरे-धीरे आ रही होती है, दूसरे से तुलनात्मक दृष्टि से न देखे। उसे उचित लाभ अवश्य मिलेगा, चाहे देर में मिले।

जब प्राणायाम का अभ्यास करें, उस समय उसे प्रसन्न रहना चाहिये। मनुष्य को प्रसन्न रहने को कहा जाता है क्योंकि ऐसे मनुष्य का जीवन प्रसन्नता में ही बीतता है तथा उम्र भी उसकी अधिक हो जाती है, उसे बीमारियाँ कम लगती हैं तथा प्राणों में भी शुद्धता रहती है। प्रसन्नता और आनन्दित होना सत्वगुण का स्वभाव है। जब वह अध्यात्म को अपना लेता है तो सफलता शीघ्र मिलने लगती है। अभ्यासी को चिन्तित और दुःखी भाव से नहीं रहना चाहिये। जहाँ तक हो सके, कृत्रिम रूप से ही प्रसन्न रहने का प्रयास करे और सात्विक कर्म करे।

जब अभ्यासी को ऐसा लगने लगे कि उसे उचित सफलता नहीं मिल रही है, परेशानियाँ और अवरोध आदि आ रहे हैं, तब उसे दान और परोपकार में लग जाना चाहिये जितना उचित मात्रा में कर सकता हो। परोपकार, सेवा आदि से बहुत ही शीघ्र प्राणों में तथा चित्त में शुद्धता आने लगती है। इसलिए प्रत्येक अभ्यासी को यह कार्य अपना लेना चाहिये। परोपकार और सेवा में बहुत ही सामर्थ्य होता है; यह भक्ति योग में आता है।

मनुष्य के शरीर में प्राणों के अशुद्धता का एक बहुत बड़ा कारण यह भी होता है कि उसका इन्द्रिय संयम नहीं होता है। जिसकी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होकर सांसारिक पदार्थों की ओर भागती रहती हैं और उन्हें प्राप्त करने का प्रयास करती रहती हैं, इन इन्द्रियों की आसक्ति के कारण प्राणों में अशुद्धता बहुत आती है। कारण यह है – स्थूल पदार्थों में आसक्त हुए मन का व्यवहार पूर्णरूप से तमोगुण का ही होता है। इसलिए प्राणों का अशुद्ध होना सामान्य सी बात है। हर मनुष्य का कर्तव्य है कि इन बेलगाम भागती हुई इन्द्रियों को अपने वश में रखने का अवश्य प्रयास करे। प्रत्येक इन्द्रिय को अपने-अपने ढंग से अनुशासित रखना चाहिये अर्थात् इन्द्रियों को तपा देना चाहिये। अनुशासित हुई इन्द्रियाँ अपना सामान्य स्वभाव त्यागकर अन्तर्मुखी होने लगती है। इन्द्रियों में अन्तर्मुखता आने पर प्राणों में शुद्धता अपने आप धीरे-धीरे आने लगती है। इसीलिए पूर्वकाल में तपस्वी सबसे पहले इन्द्रियों को ही अनुशासित कर अन्तर्मुखी बना देते थे। फिर समाधि का अभ्यास किया करते थे। जिनका इन्द्रिय संयम हो गया

हो, निश्चय ही उसने जीवन की बहुत बड़ी सफलता अपने नाम कर ली है। ऐसे अभ्यासी के प्राण, मन और चित्त शीघ्र शुद्ध होने लगते हैं।

समाज में कुछ मनुष्य ऐसे भी मिल जाते हैं, जिनकी आदत झूठ बोलने की बनी हुई है। उन्होंने अपने जीवन में झूठ को शामिल कर लिया है। हर बात पर अकारण झूठ का प्रयोग करते रहते हैं। उन्हें झूठ बोलने पर कोई दुःख नहीं होता है। अगर उनसे कहो – तुमने झूठ क्यों बोला है, तब उनका उत्तर होता है – झूठ बोल दिया तो क्या हो गया? ऐसे मनुष्य कभी भी आध्यात्मिक मार्ग में सफल नहीं होते हैं, क्योंकि इससे उनका चित्त मलिन हो जाता है। जिसका चित्त अधिक मलिन हो जाता है, वह सिर्फ झूठ ही नहीं बोलता है, बल्कि उसकी सोच भी अधर्म से युक्त हो जाती है। इस प्रकार के मनुष्य निश्चय ही कहीं न कहीं असामाजिक ढंग से कार्य करने में लगे रहते हैं, ऐसे कार्यों को करना वह गलत ही नहीं समझते हैं। इनके सूक्ष्म शरीर में इतनी अशुद्धता भर जाती है कि योग का कठोर अभ्यास करने पर भी शीघ्र आन्तरिक विकास होना शुरू नहीं होता है। तब वह हताश होने लगते हैं। झूठ बोलना एक ऐसा पाप है कि अगर यह कहा जाए सभी प्रकार के पापों का पिता है तो ऐसा कहना गलत नहीं होगा, क्योंकि ऐसा मनुष्य सभी को धोखा देता रहता है। इस प्रकार के मनुष्य पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। ऐसा व्यक्ति समाज के लोगों को भी अपने वलय के द्वारा अशुद्ध बनाता रहता है।

सदैव सत्य का अनुसरण करना चाहिये। सत्यनिष्ठ होना सबसे बड़ी तपस्या है। ऐसे व्यक्ति को योग का अभ्यासी अवश्य बनना चाहिये। सत्यनिष्ठ व्यक्ति में मनोबल जबरदस्त होता है, उसके सामने समाज के द्वारा परेशानियाँ उपस्थित की जा सकती हैं, मगर उसका मार्ग नहीं रोका जा सकता है। हमारे समाज में जितने भी योगी या भक्त हो चुके हैं, उन सभी को बहुत परेशानी उठानी पड़ी है। मगर ऐसे महापुरुषों ने कभी भी अपनी सत्यनिष्ठा पर आँच नहीं आने दी है। ऐसे व्यक्ति आध्यात्मिक मार्ग में सफलताएँ प्राप्त करते रहते हैं क्योंकि उनका प्राण, मन और चित्त निर्मल होता है। सत्य का अनुसरण करने वाले मनुष्य पर प्राणायाम का प्रभाव बहुत ही शीघ्रता से होता है। उसके अन्दर पहले ही शुद्धता विद्यमान रहती है। मगर इससे ठीक उल्टा

झूठ बोलने वाले मनुष्य पर प्राणायाम का प्रभाव शीघ्र नहीं पड़ता है क्योंकि उनका चित्त, मन और प्राण पहले से ही मलिनता की अधिकता से युक्त होता है। स्वच्छता लाने के लिए कई वर्षों तक कठोर संयम के द्वारा अभ्यास से थोड़ा-थोड़ा प्रभाव समझ में आता है। ऐसे मनुष्य तब सोचना शुरू कर देते हैं – "अमुक अभ्यासी को बहुत शीघ्र ही सफलता मिलने लगी है। मुझे कई वर्ष हो गये अभ्यास करते हुए, मगर सफलता नहीं मिल रही है। फिर वह अपने सद्गुरु की ओर सोचने लगते हैं। गुरुजी मुझ पर कृपा क्यों नहीं कर रहे हैं? दूसरे साधकों पर कृपा कर रहे हैं।" ऐसा अभ्यासी और सोच भी क्या सकता है? यही उसकी मलिनता है कि अपने शुभचिन्तक सद्गुरु पर ही प्रश्नचिन्ह लगा देता है। ऐसे मनुष्य का मन इधर-उधर भटकने में ही लगा रहता है। इसलिए मनुष्यों को अपने आध्यात्मिक जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए ही नहीं, बल्कि अपने जीवन का व्यवहार अच्छा बनाने के लिए भी सदैव सत्य का अनुसरण करना चाहिए। झूठ बोलने का प्रभाव परिवार में उनके बच्चों पर भी पड़ता है। बच्चे रोजाना देखते है कि उनके मम्मी-पापा झूठ बोलते रहते है तो मैं क्यों झूठ से परहेज करूँ? धीरे-धीरे बच्चे भी झूठ बोलना सीखने लगते हैं। समाज में उसके सामने भले ही कोई कुछ न कहे, मगर पीछे से समाज वाले बोलने लगते हैं कि उस व्यक्ति अथवा परिवार पर विश्वास मत करना, वहाँ सभी झूठ बोलते रहते हैं।

प्राणों की शुद्धता मंत्रों के द्वारा भी होती है। मंत्र स्वयं अपने आप में विज्ञान है। मंत्र जब लयबद्ध तरीके से बोला जाता है, तब शरीर, प्राण और मन की शुद्धता के अतिरिक्त इसका प्रभाव वातावरण पर भी पड़ता है। मंत्र के प्रभाव से प्राणों में शीघ्रता से शुद्धता आने लगती है। मंत्र को ध्वनि निकालकर बोला जाता है। इस ध्वनि की सीमा कितनी होनी चाहिये, ऐसा अनुभवी गुरु ही बता सकता है। मंत्र बोलने के कई प्रकार के तरीके होते हैं। बहुत से व्यक्ति या साधक अपने इच्छानुसार ही मंत्र बोलने लगते हैं, इससे उन्हें उचित लाभ नहीं मिल पाता है। प्राणों को शुद्ध करने के लिए विशेष प्रकार से ध्वनि निकाल कर ही बोलना चाहिये। इस प्रकार की ध्वनि से विशेष प्रकार की तरंगें प्रकट होने लगती हैं। वह तरंगें पहले स्थूल रूप में होती हैं, फिर धीरे-धीरे शुद्ध होने पर सूक्ष्म होकर व्यापक होने लगती हैं। इन शुद्ध हुई सूक्ष्म तरंगों के

प्रभाव से अभ्यासी के अन्दर शुद्धता आने लगती है, क्योंकि इन सूक्ष्म तरंगों का सम्बन्ध सीधे वायु तत्त्व से होता है। अगर मंत्र का जाप बहुत अधिक किया जाए, तो वातावरण के निश्चित क्षेत्र में शुद्धता आनी शुरू हो जाती है। इस शुद्धता का प्रभाव उन प्राणियों पर भी पड़ता है जो उस क्षेत्र में आ जाते हैं।

जब प्राणायाम के द्वारा प्राणों को शुद्ध किया जाता है, तब सबसे पहले शरीर के अन्दर गर्मी की अनुभूति होती है, यह सभी अभ्यासी जानते हैं। शरीर के अन्दर गर्मी बढ़ने के कारण ही अभ्यासी प्राणों को बाहर निकाल देता है अर्थात् रेचक कर देता है क्योंकि शरीर के अन्दर की गर्मी और घबराहट ऐसा करने पर मजबूर कर देती है। बहुत से साधकों को शिकायत रहती है कि जब वह ध्यान करते है तब उनके सिर में गुदगुदी होने लगती है तथा प्राणवायु सिर में दबाव मारने लगती है। कभी-कभी सिर में प्राणों का दबाव इतना ज्यादा बढ़ जाता है कि अभ्यासी को बेचैनी-सी होने लगती है। वह समझने लगता है कि हमारे ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर प्राण पहुँच गया है, वहीं पर प्राण दबाव मार रहा है, अब ब्रह्मरन्ध्र द्वार खुलने वाला है। कभी-कभी तो साधक यह समझने लगता है कि उसका सहस्त्रार चक्र खुल रहा है। अभ्यास के समय कभी-कभी सिर में दर्द होने लगता है। दर्द इतना बढ़ जाता है कि उसका ध्यान टूट जाता है। फिर वह अपना सिर पकड़ कर बैठ जाता है। ये सभी प्रकार की क्रियाएँ प्राणों के द्वारा होती हैं। अभ्यासी सही रूप से उसका अर्थ नहीं समझ पाता है। वह भूल से अपने आप को उच्च श्रेणी का साधक समझ लेता है।

साधक के सिर में जो इस प्रकार की क्रियाएँ होती है, इसका कारण यह है – पहले उसके मस्तिष्क की सूक्ष्म नाड़ियाँ बन्द रहती हैं, सामान्य अवस्था में उनसे कार्य नहीं लिया जाता है। प्राणायाम और ध्यान के अभ्यास से ये सूक्ष्म नाड़ियाँ क्रियाशील होने का प्रयास करने लगती हैं। मगर इनके अन्दर अशुद्धता भरी रहती है, अशुद्धता के कारण ये बन्द रहती हैं। फिर क्रियाशील होने पर इन सूक्ष्म नाड़ियों के अन्दर प्राण प्रवेश करने का प्रयास करने लगता है। उस समय तमोगुण के कारण बन्द पड़ी इन सूक्ष्म नाड़ियों के अन्दर प्राणों के कारण शुद्धता आने

लगती है। जिस समय प्राण नाड़ियों की अशुद्धता निकालकर शुद्ध प्राण का संचार करने का प्रयास कर रहा होता है, उस समय अभ्यासी को हल्के दर्द की अनुभूति होने लगती है। कभी-कभी इन सूक्ष्म नाड़ियों में प्राण गमन करता है, तब अभ्यासी को अनुभूति होती है कि सिर के उस स्थान पर हलचल हो रही है। यहाँ पर अभ्यासी अज्ञानता वश समझ लेता है कि उसका अमुक चक्र क्रियाशील हो गया है अर्थात् खुल गया है। ऐसे बहुत से साधक है जो अपने-आप ऐसा ही समझे बैठे हैं कि उनके चक्र क्रियाशील हो गये हैं। जब प्राण उन सूक्ष्म नाड़ियों में इधर-उधर गमन नहीं कर पाता है, तब प्राणों का दबाव उस क्षेत्र में बढ़ जाता है, जिसे साधक सही ढंग से समझ नहीं पाता है,। इसलिए इन सब बातों को एक योग्य गुरु ही सही ढंग से समझा सकता है।

जब साधक को इस प्रकार का कष्ट होने लगे, उस समय इन सभी प्रकार के कष्टों का निवारण प्राणायाम है। प्राणायाम के अभ्यास से जब प्राणवायु शुद्ध होने लगती है, तब कुछ समय के लिए सिर दर्द या प्राणों के दबाव का कष्ट कम होने लगता है। मगर फिर भविष्य में ऐसे कष्टों की अनुभूति हो सकती है। जिसका अभ्यास कठोरता के साथ तेज गति से हो रहा है, उनके सिर में अधिक अनुभूति होती है क्योंकि अभ्यासानुसार ही सूक्ष्म नाड़ियों में क्रिया होती रहती है। ऐसी अवस्था में प्राणों को अधिक शुद्ध रखने के लिए भोजन व प्राणायाम पर अधिक ध्यान देना चाहिए, तथा मंत्र जाप भी अधिक करना चाहिए।

प्राणों के शुद्ध होने पर

सामान्य अवस्था में प्रत्येक मनुष्य के शरीर में प्राण अशुद्धता से युक्त रहते हैं। जो मनुष्य सिर्फ स्थूल जगत को अपना समझते हुए स्थूल पदार्थों को ही प्राप्त करने, भोगने और संग्रह में लगा रहता है, ऐसे मनुष्य के प्राण अशुद्धता की श्रेणी में ही रखे जाएँगे, क्योंकि सम्पूर्ण जगत में

तमोगुण का ही व्यापार चल रहा है। तमोगुण को ही अशुद्धता कहते हैं। सत्वगुण को शुद्धता कहते हैं। जिस मनुष्य के अन्दर परोपकार, सेवा, भक्ति आदि की भावना जाग्रत होती है तथा इसी प्रकार के कर्म करते हैं, उनके अन्दर कर्मानुसार शुद्धता आने लगती है। मगर जब प्राणायाम और ध्यान के अभ्यास के द्वारा आन्तरिक विकास होने लगता है, तब उनके प्राणों में शुद्धता आने लगती है। आन्तरिक विकास और प्राणों की शुद्धता से अभ्यासी के अन्दर विशेष प्रकार के गुण प्रकट होने लगते हैं। इससे अभ्यासी निरोगी रहता है, उसे सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा बहुत ही कम बीमारियाँ आदि लगती हैं। प्राणों के शुद्ध होने पर सम्पूर्ण बीमारियाँ दूर भाग जाती हैं। मगर प्राणों के अशुद्ध होने पर शरीर में अक्सर बीमारियाँ लगती रहती हैं। किसी भी बीमारी में प्राणों का बहुत बड़ा महत्त्व होता है। कुछ बीमारियाँ ऐसी भी होती है कि अगर रोगी के शरीर के अन्दर शुद्ध प्राण को कृत्रिम रूप (शक्तिपात द्वारा) से प्रवाहित किया जाए, तो रोगी ठीक होने लगता है। इसलिए सांसारिक जीवन हो अथवा आध्यात्मिक जीवन हो, दोनों अवस्थाओं में प्राणों का ही प्रधान रूप से महत्त्व होता है।

वर्तमान समय में अपने देश में प्रदूषण के कारण ज्यादातर लोग प्रभावित रहते हैं। बड़े-बड़े शहरों में बहुत अधिक प्रदूषण रहता है क्योंकि वाहनों की संख्या अधिक होने के कारण उससे निकलने वाले धुएँ से बहुत ही ज्यादा प्रदूषण बढ़ जाता है। औद्योगिक क्षेत्रों से भी बहुत ज्यादा मात्रा में प्रदूषण फैलता है। इसका प्रभाव वहाँ के निवासियों पर बहुत ही बुरा पड़ता है। इसके फलस्वरूप बहुत से लोगों को श्वास सम्बन्धी बीमारियाँ और अस्थमा की शिकायत हो जाती है। इस प्रदूषण के कारण होने वाली बीमारियों का प्राणायाम द्वारा निवारण किया जा सकता है। अपने बचाव के लिए अधिक प्रदूषण वाली जगहों पर कम जाएँ अथवा नाक के ऊपर कपड़ा बाँध लें और दिन में तीन बार प्राणायाम अवश्य करें। इससे फेफड़े सही ढंग से कार्य करते रहेंगे। नहीं तो फेफड़ों के निचले क्षेत्र के कोष्ठक बन्द होने लगेंगे। इन कोष्ठकों को खुला रहना अति आवश्यक है, जिससे हृदय को अधिक ऑक्सीजन पहुँचाकर, शरीर में शुद्ध रक्त सही जगह पहुँच सके।

सात्विक भोजन करने और प्राणायाम अधिक करने से सीधे प्राणों पर असर पड़ता है। शुद्ध भोजन के द्वारा शुद्ध प्राण बनता है। प्राणायाम के द्वारा प्राण तो शुद्ध होता ही है, साथ में सूक्ष्म शरीर पर भी प्रभाव पड़ता है। जब प्राण शुद्ध होता है तब उसका प्रभाव मन पर भी पड़ता है, क्योंकि दोनों का आपस में गहरा रिश्ता है। इन दोनों के शुद्ध होने पर चित्त में शुद्धता आनी शुरू हो जाती है। मनुष्य के जीवन का एक और लक्ष्य होना चाहिये कि वह अपने मन और चित्त को स्वच्छ करे। ऐसा प्राणों के शुद्ध होने पर होता है। शुद्ध चित्त वाले मनुष्य की सोच भी अच्छी (शुद्ध) होती है। तपस्या और समाधि के द्वारा योगी जन चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके चित्त को शुद्ध किया करते हैं।

अभ्यासी का प्राण जब शुद्ध होने लगता है तब उसका मन स्थिर होने लगता है। कुछ लोग स्वभाव से बहुत ही चंचल होते है तथा कुछ लोग स्वभाव से बहुत गन्दे और निम्न सोच वाले होते हैं। इन सबका कारण यह है कि उनका मन अधिक अशुद्ध (तमोगुणी) होता है। मन की अशुद्धता के कारण निम्नता को प्राप्त हो जाते हैं। जब प्राणायाम के द्वारा प्राणों को शुद्ध किया जाता है अथवा प्राण शुद्ध होने लगते हैं, तब इसका प्रभाव सीधे मन पर पड़ता है। मन जितना शुद्ध होगा, उतना ही ज्यादा स्थिर होने लगता है। मन का स्थिर होना अति आवश्यक है। मन की स्थिरता के लिए बहुत ही ज्यादा प्रयास व अभ्यास के बाद धीरे-धीरे सफलता मिलने लगती है। इसके लिए सिर्फ प्राणायाम पर ही निर्भर नहीं रहें, उसके साथ त्राटक और मंत्र आदि का सहारा भी ले लेना चाहिये। इससे मन में तेजी के साथ स्थिरता आने लगती है। मन में सबसे ज्यादा स्थिरता समाधि के द्वारा प्राप्त होती है। प्राणों की शुद्धता के आधार पर ही मन में स्थिरता आती है क्योंकि मन को शक्ति प्राणों से मिलती है। इसीलिए पहले प्राणों को ही शुद्ध करना चाहिए। प्राण शुद्ध है तो मन अवश्य शुद्ध हो जाएगा। मन जितना अधिक शुद्ध होगा उतनी ही ज्यादा मन के अन्दर व्यापकता आएगी। साधक के लिए मन का व्यापक होना आवश्यक है।

सभी शिष्यों ने देखा होगा – उनके सद्गुरु दीक्षा देते समय शक्तिपात करते हैं। शिष्यों का मार्गदर्शन करते समय उचित अवसर पर शक्तिपात करते रहते हैं। शक्तिपात के रूप में अत्यन्त निर्मल व स्वच्छ प्राण तत्त्व ही होता है। इसी प्राण तत्त्व का अत्यन्त शुद्ध स्वरूप योगबल होता है। इसी योगबल को (प्राण तत्त्व को) शिष्य के शरीर में प्रवेश कर देते हैं, फिर वह संकल्पानुसार कार्य करता रहता है। इसी प्राण की शुद्धता के आधार पर ही शक्तिपात करना सम्भव हो पाता है। देखा गया है कि कुछ गुरु अपने शिष्यों का मार्ग शीघ्रता से प्रशस्त होने के लिए अक्सर शक्तिपात करते रहते है। कुछ गुरु सिर्फ दीक्षा देते समय ही शक्तिपात करते है, फिर वह शिष्यों पर शक्तिपात नहीं करते हैं, क्योंकि उनके शिष्य ही इतने ज्यादा हो जाते हैं कि वह किस-किस शिष्य पर शक्तिपात करेंगे। कुछ गुरु ऐसे भी होते हैं कि वे अपने शिष्यों पर स्पर्श के द्वारा शक्तिपात नहीं करते हैं, बल्कि सामूहिक रूप से सैकड़ों शिष्यों को अपने सामने बिठाकर, फिर स्वयं ऊँचे स्थान पर खड़े होकर बोल देते हैं – "तुम सभी अमुक मंत्र का जाप करो", फिर वह मंत्र बोलकर बता देते हैं। उनके शिष्य उसी मंत्र को गुरुमंत्र मानकर उसी मंत्र का जाप करने लगते हैं। ऐसे साधकों की आध्यात्मिक उन्नति कितनी हो पाती है, यह तो मैं नहीं जानता हूँ, मगर इतना अवश्य जानता हूँ कि इस प्रकार के गुरुओं के शिष्य मुझे बहुत मिले। ऐसे साधकों को साधना करते हुए 15 वर्ष बीत गये, मगर उन्नति के नाम पर शून्य ही हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि उनके अन्दर गुरु द्वारा किए गए शक्तिपात से योगबल कितनी मात्रा में प्रवेश हुआ है यह सभी समझ सकते हैं। जैसा गुरु वैसा ही शिष्य, दोनों एक-दूसरे से संतुष्ट रहते हैं। इतना ही पर्याप्त नहीं होता है; गुरु द्वारा शिष्य के शरीर में योगबल प्रवेश कराया जाता है, वह योगबल शिष्य के सूक्ष्म शरीर में व्याप्त होकर कार्य करता रहता है। यह योगबल शिष्य का मार्गदर्शक व सहायक बनकर अध्यात्म मार्ग को प्रशस्त करता रहता है। जब शिष्य पर शक्तिपात ही नहीं किया गया है अथवा दूर से कह दिया गया कि अमुक मंत्र का जाप करो, तब शिष्य उस मंत्र का जितना जाप करेगा, उतना ही उसे लाभ मिलेगा। ऐसे शिष्य अध्यात्म में उच्चावस्था प्राप्त करने की इच्छा न रखे। जो महापुरुष गुरु पद पर बैठे होते हैं, उनकी भी भिन्न-भिन्न योग्यताएँ होती हैं। उन्होंने स्वयं कितना अभ्यास किया है, यह महत्त्व रखता है। सिर्फ संत का वेश बना लेना ही पर्याप्त नहीं

होता है, बल्कि अभ्यास के द्वारा उसने योग की किस अवस्था को प्राप्त किया है, यह महत्त्वपूर्ण है। उस अवस्था के अनुसार ही उसका चित्त शुद्ध रहता है। जिसका जितना चित्त शुद्ध होगा, उतनी ही चित्त की व्यापकता होगी। चित्त की व्यापकता के अनुसार ही शक्तिपात का प्रभाव पड़ता है। इसीलिए गुरुओं की योग्यतानुसार ही शक्तिपात में भिन्नता आ जाती है अर्थात् किसी गुरु का शक्तिपात कम होगा, किसी का शक्तिपात ज्यादा होगा। कुछ गुरु लगातार कई शिष्यों पर शक्तिपात कर सकते हैं। कुछ गुरुओं की प्राणऊर्जा (योगबल) दो-तीन शिष्यों पर शक्तिपात करने के बाद कम पड़ने लगती है। यह बात अलग है कि शक्तिपात तो कर दिया गया, शिष्य के अन्दर कितनी शक्ति (योगबल) का प्रवेश हुआ है, उसी के अनुसार साधक को साधना में (अभ्यास में) सहायता मिलती है।

कुछ गुरु जो उच्चावस्था को प्राप्त हुए हैं, उनके साधक सदैव श्रेष्ठ होते हैं क्योंकि गुरु द्वारा किया गया संकल्प ही इतना जोरदार होता है कि उनके शिष्यों का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। ऐसे शिष्यों के कर्म भी श्रेष्ठ होते हैं, जिन्हें इतने अच्छे गुरु मिले हैं। जीवन्मुक्त अवस्था वाले गुरु ज्यादातर मार्गदर्शन नहीं करते हैं क्योंकि वह अपने आपको छिपाये रहते हैं। ऐसे महापुरुष गुप्त रूप से कार्य करते रहते हैं। जिस पर कल्याण करने के लिए मन बना लिया, उसका कल्याण कर दिया और चल दिये। जरूरी नहीं कि वह दुबारा कभी मिलेंगे। कुछ जीवन्मुक्त गुरु ऐसे भी होते है कि वह कुछ समय तक समाज का कल्याण करते रहते हैं, फिर सदैव के लिए शांत होकर चुप बैठ जाते हैं। इस प्रकार के योगियों पर प्रकृति के नियम लागू नहीं होते हैं, क्योंकि वे पूर्णरूप से मुक्त होते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त पुरुषों के पास योगबल की कभी कमी नहीं रहती है क्योंकि उन्होंने पाँचों तत्वों का साक्षात्कार कर लिया है। इनके अन्दर प्राण शुद्धि का कोई पैमाना नहीं होता है क्योंकि चित्त की भूमि को पूर्णरूप से नष्ट किया जा चुका है। इसलिए चित्त की अज्ञानता को पूर्णतया नष्ट कर चुके है। अब उनके चित्त में ऋतम्भरा-प्रज्ञा द्वारा ज्ञान का प्रकाश फैला हुआ है। ये प्राण तत्त्व को अपने अधिकारों में किये रहते है।

चक्र

अपरा-प्रकृति अपने आपको तीन रूपों में रचती है – **1.** कारण जगत, **2.** सूक्ष्म जगत, और **3.** स्थूल जगत। इसी प्रकार मनुष्य का शरीर भी तीन शरीरों वाला होता है – **1.** कारण शरीर, **2.** सूक्ष्म शरीर, और **3.** स्थूल शरीर। स्थूल शरीर और स्थूल जगत का निर्माण स्थूल पंचभूतों से हुआ है। दोनों का निर्माण एक ही प्रकार के पदार्थों से होने के कारण आपस में दोनों का तारतम्य बना रहता है। सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत का निर्माण सूक्ष्म पंचभूतों से हुआ है, इसलिए सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत का आपस में तारतम्य बना हुआ है। इसी प्रकार कारण शरीर और कारण जगत को समझना चाहिये। इसलिए कहा जाता है कि ब्रह्माण्ड रूपी पिण्ड बड़ा पिण्ड है तथा शरीर रूपी पिण्ड छोटा पिण्ड है, दोनों का आपस में तारतम्य बना हुआ है। जो ब्रह्माण्ड रूपी बड़े पिण्ड में है वही शरीर रूपी छोटे पिण्ड में है। अगर अभ्यासी अपना आन्तरिक (सूक्ष्म) विकास कर ले, तो ब्रह्माण्ड रूपी पिण्ड का अपने आप विकास हो जाता है अथवा होने लगता है।

जब कारण जगत से सूक्ष्म जगत का प्राकट्य होता है, तब कारण जगत की अपेक्षा सूक्ष्म जगत में तमोगुण की मात्रा बढ़ जाती है। इसलिए कारण जगत की अपेक्षा सूक्ष्म जगत की सीमाएँ और व्यापकता कम हो जाती है और सूक्ष्म जगत का घनत्व बढ़ जाता है। यह सूक्ष्म जगत और सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म पंच भूतों से बना हुआ है। सूक्ष्म जगत में तमोगुण बहिर्मुख होने पर स्थूल जगत का प्राकट्य हुआ अर्थात् सूक्ष्म पंचभूतों में तमोगुण बहिर्मुख होने पर स्थूल पंचभूतों का प्राकट्य हुआ। इन स्थूल पंचभूतों से स्थूल शरीर और स्थूल जगत का निर्माण हुआ। इसलिए स्थूल शरीर और स्थूल जगत का आपस में तारतम्य बना हुआ है। स्थूल जगत में तमोगुण की मात्रा इतनी ज्यादा बढ़ जाती है कि इस सम्पूर्ण स्थूल जगत में तमोगुण का ही व्यापार हो रहा है तथा ठोसता को प्राप्त हो रहा है। सृष्टि की इस प्रक्रिया में धीरे-धीरे क्रमशः सत्वगुण की मात्रा घटती जाती है और तमोगुण की मात्रा बढ़ती जाती है। अन्त में स्थूल जगत में सत्वगुण मात्र प्रकाश रूप में झलकता है। सूक्ष्म जगत की अपेक्षा स्थूल जगत की व्यापकता

व सीमाएँ बहुत ही कम है। मनुष्य अपने आपको सिर्फ शरीर मानने लगता है। इसी प्रकार कारण जगत की अपेक्षा सूक्ष्म जगत का घनत्व ज्यादा है। सूक्ष्म जगत की अपेक्षा स्थूल जगत का घनत्व बहुत ज्यादा है तथा अन्त में यह ठोसता को प्राप्त हो रहा है। व्यापकता, संकीर्णता व सूक्ष्मता और ठोसता में तीनों गुणों का कार्य महत्त्वपूर्ण है। कारण शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर का घनत्व ज्यादा है। सूक्ष्म शरीर की अपेक्षा स्थूल शरीर का घनत्व बहुत ही ज्यादा है, इसलिए यह शरीर ठोसता को प्राप्त हो रहा है अर्थात् धीरे-धीरे व्यापकता कम होती जाती है।

जो शक्तियाँ ब्रह्माण्ड रूपी पिण्ड में विद्यमान हैं, वही सम्पूर्ण शक्तियाँ इस शरीर रूपी पिण्ड में विद्यमान रहती हैं। मनुष्य के शरीर में इन शक्तियों के विशेष प्रकार के शक्ति केन्द्र विद्यमान हैं, इन्हें चक्र या पद्म भी कहते हैं। ये चक्र शरीर में मुख्य रूप से सात माने जाते हैं। वैसे और भी छोटे-छोटे चक्र होते हैं, मगर यहाँ पर मुख्य रूप से सात चक्रों के विषय में वर्णन किया जा रहा है। इन सातों चक्रों में आपस में व्यापकता और घनत्व में अन्तर होता है। जिस प्रकार सूक्ष्म जगत में घनत्व स्तर पर भिन्नता है, उसी प्रकार से इनके विकासक्रम में व्यापकता में भिन्नता है।

ये सभी चक्र मनुष्य के सूक्ष्म शरीर में विद्यमान रहते हैं। स्थूल शरीर के द्वारा स्थूल जगत में व्यापार करते समय तमोगुण की मात्रा बढ़ती रहती है, इसीलिए मनुष्य का चित्त तमोगुण से आच्छादित रहता है। इस अवस्था में सूक्ष्म शरीर में भी तमोगुण की मात्रा बढ़ती रहती है। मनुष्य स्वयं अपने सूक्ष्म शरीर की अनुभूति नहीं कर पाता है। वह स्वयं अपने आपको सिर्फ स्थूल शरीर ही मानता है। अज्ञानी मनुष्य अपने सूक्ष्म शरीर की उपस्थिति को स्वीकार करने को तैयार नहीं होता है, इसीलिए सूक्ष्म जगत का भान नहीं होने के कारण सूक्ष्म जगत के विषय की कोई भी बात स्वीकार करने को तैयार नहीं होता है। इन सबका कारण तमोगुण से उत्पन्न होने वाली अज्ञानता है। सामान्य अवस्था में सूक्ष्म शरीर की अनुभूति न होने के कारण इन चक्रों की अनुभूति भी मनुष्यों को नहीं होती है। इन सभी चक्रों पर तमोगुण रूपी अशुद्धता आच्छादित रहती है। इसीलिए चक्र सुषुप्तावस्था में अविकसित रूप में विद्यमान रहते है क्योंकि मनुष्य ने इन

चक्रों को अभ्यास के द्वारा क्रियाशील करने का प्रयास नहीं किया है। इसीलिए कहा जाता है कि मनुष्य धन-दौलत प्राप्त करने के लिए इस संसार में अन्धों की तरह भटकता हुआ घूम रहा है, जबकि सबसे बड़ा खजाना उसके शरीर के अन्दर ही छुपा हुआ है। इस खजाने रूपी तिजोरी का दरवाजा बंद करके और बाहर से ताला लगाकर उसके ही ऊपर बैठ गया है और चीखता-चिल्लाता इधर-उधर सिर पीट रहा है और कहता है – मैं गरीब हूँ, मैं गरीब हूँ। अरे! तू कहाँ गरीब है, तू तो कुबेर से भी ज्यादा धनवान है, पहले अपने अन्दर की आँखें खोलो और सद्गुरु की उँगली पकड़कर चलो, गुरुकृपा से अपने खजाने का दरवाजा खोलो, फिर देखोगे तुम राजाओं के राजा अर्थात् महाराजा हो। क्यों भिखारियों के समान इधर-उधर गिड़गिड़ा रहे हो? अगर संसारी धन-दौलत (रुपये आदि) थोड़ा मिल भी गया, तो कब तक उसका भोग यहाँ पर कर पाओगे? बड़े-बड़े राजा-महाराजा आये और चले गये, उनका धन-दौलत यहीं पर पड़ा रहा, वह धन किसी काम नहीं आया अर्थात् उसे नहीं ले जा पाये। ये धन जो तुम्हारे अन्दर छिपा हुआ है, जब इसे प्राप्त कर लोगे, तब तुम यहाँ भी उसका प्रयोग कर सकते हो, और शरीर त्यागने के बाद भी तुम्हारे साथ जाएगा, उस समय ऊर्ध्व लोकों में तुम्हारे काम आएगा।

शरीर के अन्दर मुख्य रूप से सात चक्रों के नाम इस प्रकार से हैं – **1.** मूलाधार चक्र, **2.** स्वाधिष्ठान चक्र, **3.** नाभि चक्र, **4.** हृदय चक्र, **5.** कण्ठ चक्र, **6.** आज्ञा चक्र, **7.** सहस्त्रार चक्र।

1. **मूलाधार चक्र**– यह चक्र रीढ़ के सबसे निचले भाग में जो नुकीला भाग होता है उससे थोड़ा-सा ऊपर होता है। यह गुदा के पास पीछे की ओर होता है।
2. **स्वाधिष्ठान चक्र**– यह चक्र मूलाधार चक्र से थोड़ा-सा ऊपर की ओर जननेन्द्रिय के पीछे विद्यमान रहता है।
3. **नाभिचक्र**– यह नाभि के पिछले भाग में रीढ़ के स्थान में विद्यमान रहता है।
4. **हृदय चक्र**– यह चक्र हृदय के पीछे रीढ़ के स्थान में विद्यमान रहता है।
5. **कण्ठचक्र**– यह चक्र गले के स्थान पर विद्यमान रहता है।

6. आज्ञा चक्र– यह चक्र दोनों भृकुटी के मध्य में हल्का-सा ऊपर की ओर विद्यमान रहता है।

7. सहस्त्रार चक्र– यह चक्र सिर के सबसे ऊपरी भाग में विद्यमान रहता है।

ये सभी चक्र सुषुम्ना नाड़ी से सम्बद्ध रहते हैं तथा इन चक्रों के देवता अलग-अलग होते हैं। मनुष्य जब तक सामान्य जीवन जीता है तब तक उसके शरीर में स्थित चक्र सुषुप्तावस्था में विद्यमान रहते हैं अर्थात् उनका विकास नहीं हुआ होता है। उन चक्रों के स्थान पर अशुद्धता व्याप्त रहती है। इसीलिए उन चक्रों का लाभ वह मनुष्य नहीं ले पाता है। अन्त में उसका स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है। उसे जो बहुमूल्य मानव जीवन मिला हुआ था, उसका वह सदुपयोग नहीं कर पाया। इन चक्रों के विकसित होने पर अभ्यासी का विकासक्रम शुरू होने लगता है तथा उसके अन्दर विकास के अनुसार दिव्यता आने लगती है। इन चक्रों के ऊपर जो अशुद्धता का आवरण या परत चढ़ी होती है, वह प्राणों के शुद्ध होने पर धीरे-धीरे हटने लगती है अथवा अशुद्धता जलकर नष्ट होने लगती है। अशुद्धता (तमोगुण) के निश्चित मात्रा में कम होने पर मूलाधार चक्र से विकासक्रम होना शुरू हो जाता है, फिर विकसित होकर खुलने लगता है। जब चक्र खुल जाता है तब अभ्यासी के अन्दर उस चक्र से सम्बन्धित गुण प्रकट होने लगते हैं।

ये सभी चक्र प्राणों की स्वच्छता होने पर ही विकसित होकर खुलते हैं। चक्रों का विकसित होकर खुलने की अनुभूति व अनुभव कुछ साधकों को होती है और कुछ साधकों को बिल्कुल नहीं होती है। कुछ साधकों को इस प्रकार की प्रक्रिया की अनुभूति स्पष्ट होती है तथा दिखाई भी देता है कि यह चक्र किस प्रकार से विकसित हो रहा है। ये चक्र कमल के फूल के रूप में दिखाई देते हैं। उस कमल की पंखुड़ियाँ स्पष्ट रूप से खुलती हुई दिखाई देती हैं। अभ्यास के द्वारा जैसे-जैसे प्राणों में शुद्धता आने लगती है, वैसे-वैसे चक्र का विकास धीरे-धीरे होना शुरू हो जाता है। जो साधक पूर्व जन्मों से योग का अभ्यास करते चले आ रहे हैं, उन्हें इन चक्रों

के विकास की प्रक्रिया दिखाई देती है। जिन साधकों ने पूर्व जन्मों में योग का अभ्यास नहीं किया है, उन्हें इन चक्रों का खुलना दिखाई नहीं देता है, सिर्फ अनुभूति होती है।

अभ्यास की शुरूआत में जब साधक रीढ़ सीधी करके सहजासन अथवा पद्मासन पर बैठता है तथा अपने दोनों हाथों की हथेलियों को गोदी में रखकर आँखें बन्द करके अपने मन को आज्ञा चक्र पर स्थिर करने का प्रयास करता है, तब शुरूआत में कुछ समय तक मन स्थिर नहीं होता है। फिर धैर्यपूर्वक इसी प्रकार के अभ्यास में लगा रहता है, तब मन स्थिर होने लगता है। मन स्थिर करने के लिए आज्ञा चक्र पर अपने इष्ट के काल्पनिक स्वरूप पर मन को ठहराने का प्रयास करते हैं तथा प्राणायाम का भी अभ्यास करना पड़ता है। कुछ समय तक इसी प्रकार निरन्तर अभ्यास से मन कुछ क्षणों के लिए स्थिर होने लगता है, तब बहिर्मुखी हुई इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होने लगती हैं। ऐसी अवस्था में अपान वायु जो सदैव अधोगति को प्राप्त होती रहती थी, वह अपना सामान्य स्वभाव छोड़कर ऊर्ध्वमुखी होने लगती है। यहीं से ध्यान होना शुरू हो जाता है ऐसा समझना चाहिये। पहले अपान वायु अधोगति बन्द करके स्थिर होने लगती है, फिर धीरे-धीरे ऊर्ध्व होने का प्रयास करने लगती है। कुछ दिनों के अभ्यास के बाद अपान वायु ऊर्ध्व होने लगेगी। अभ्यास और बढ़ने पर मूलाधार चक्र का क्षेत्र जो तमोगुण के कारण अशुद्ध हो रहा था, वह धीरे-धीरे स्वच्छ होने लगता है। उस चक्र की अशुद्धता कम होने पर चक्र का विकासक्रम शुरू होने लगता है। इस चक्र के पूर्ण विकासित होने में कुछ समय लग जाता है। जब चक्र धीरे-धीरे विकसित हो जाता है, तब यह अपान वायु मूलाधार चक्र से ऊर्ध्व होने लगती है।

मूलाधार चक्र जब अविकसित होता है, तब इस चक्र का स्वरूप साधकों को ऐसा दिखाई देता है, जैसे गुलाब की अविकसित छोटी-सी नयी कली नीचे की ओर झुकी हुई (नीचे की ओर मुँह किये हुए) है, जैसे अभी-अभी कली का छोटा सा आकार बना है। सामान्य मनुष्यों में इसी प्रकार से मूलाधार चक्र कमल की कली के रूप में दिखाई देता है। सभी चक्र अविकसित रूप में इसी प्रकार से दिखाई देते हैं, क्योंकि चक्रों के ऊपर तमोगुण (मलिनता) का

आवरण चढ़ा रहता है। मगर जब अभ्यास के द्वारा अपान वायु अधोगति का त्यागकर ऊर्ध्वगति करने लगती है, तब मूलाधार चक्र के क्षेत्र की अपान वायु इस क्षेत्र की मलिनता को नष्ट करने लगते हैं। शुरूआत की अवस्था में साधक का मन अगर दो-तीन मिनट भी स्थिर होने लगा है, तब यह मलिनता शीघ्र नष्ट होने लगती है। मगर इस अवस्था में साधक का मन ज्यादा देर तक स्थिर नहीं रहता है, बल्कि इधर-उधर भटकता रहता है। इसी प्रकार मलिनता धीरे-धीरे नष्ट होने पर स्वच्छता प्रकट होने लगती है।

जब साधक अभ्यास के द्वारा मूलाधार चक्र की मलिनता नष्ट कर रहा होता है और मूलाधार चक्र पर प्राणवायु ठहरने लगती है, तभी मूलाधार चक्र का विकासक्रम होना शुरू होने लगता है। निम्नमुखी छोटी-सी अविकसित कली धीरे-धीरे मोटी होने लगती है तथा धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठने लगती है। अभ्यासानुसार यह क्रिया लगातार होती रहती है। उचित समय के बाद यह कली धीरे-धीरे ऊपर की ओर होकर बिल्कुल सीधी हो जाती है तथा कली का विकासक्रम भी चलता रहता है। जब वह कली बिल्कुल सीधी हो जाती है तब तक कली मोटी सी भी हो जाती है। फिर यह कली विकसित होकर फूल बनने को तैयार हो जाती है। तब साधक को स्पष्ट दिखाई देता है कि इस पूर्ण विकसित कली की पंखुड़ियाँ खुलने ही वाली है। इस कली के अन्दर चार पंखुड़ियाँ होती हैं, तब क्रमशः एक-एक करके पंखुड़ी खुलने लगती है और चारों पंखुड़ियाँ अभ्यासानुसार उचित समय में खुल जाती हैं। इस कमल की चारों पंखुड़ियाँ के खुल जाने को मूलाधार चक्र का खुलना कहते हैं अथवा विकसित होना कहते हैं। इस विकासक्रम में अपान वायु महत्त्वपूर्ण कार्य करता रहता है।

इस चक्र को शीघ्र खोलने के लिए अभ्यासी को प्राणायाम का अभ्यास दिन में दो-तीन बार अवश्य करना चाहिये। इस मूलाधार चक्र के मध्य में एक त्रिकोण होता है। उस त्रिकोण के मध्य में शिवलिंग विद्यमान रहता है। उस शिवलिंग के ऊपर साढ़े तीन चक्कर लगाए हुए कुण्डलिनी-शक्ति विद्यमान रहती है, यह कुण्डलिनी-शक्ति उस समय सुषुप्तावस्था में रहती है। साधना की शुरूआत में कुण्डलिनी-शक्ति का जागरण नहीं होता है। पहले नीचे के कुछ चक्र

प्राण के द्वारा विकसित हो जाते हैं, फिर कुण्डलिनी जागरण का समय आता है, तब तक साधक अभ्यास के द्वारा कुछ आन्तरिक विकास कर लेता है। जब कुण्डलिनी जागरण का समय आता है, तब प्राण के धक्के कुण्डलिनी-शक्ति पर लगते हैं, तब वह धीरे-धीरे जाग्रत होने लगती है। अथवा अभ्यास के कारण शुद्ध प्राण के धक्के सुषुम्ना में लगने लगते हैं या प्राण सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करने का प्रयास करने लगता है अथवा प्रवेश कर जाता है। पहले कुण्डलिनी-शक्ति धीरे-धीरे आँखें खोलने लगती है, फिर अपनी पूँछ को मुँह से उगल देती है। कुछ दिनों बाद कुण्डलिनी-शक्ति ऊर्ध्व होने का प्रयास करने लगती है। इस प्रकार से बारीकी से दृश्य सभी अभ्यासियों को नहीं दिखाई देता है। ऐसा स्पष्ट दृश्य उन्हीं साधकों को दिखाई देता है जो पिछले कई जन्मों से योग का अभ्यास करते आये है क्योंकि उनका चित्त पूर्व जन्मों के अभ्यास से स्वच्छ भी किया गया है। इसलिए उनके चित्त पर तमोगुणी कर्माशयों का अम्बार नहीं लगा होता है, पिछले जन्मों में अभ्यास के द्वारा कर्मों को नष्ट किया गया है। जिन साधकों ने साधना की अभी शुरूआत की है उन्हें स्पष्ट दृश्य दिखाई नहीं देते हैं। उनके चित्त में मलिनता बहुत ज्यादा मात्रा में विद्यमान रहती है। इस प्रकार सभी साधकों में अनुभव दिखाई देने में भिन्नता होती है। इसी प्रकार सफलता के लिए समझना चाहिए। योग का अभ्यास करते समय पिछले संस्कार सहयोग या विरोध करते रहते हैं।

मूलाधार चक्र का विकास होने पर प्राणवायु धीरे-धीरे ऊर्ध्व होने लगती है, फिर ऊर्ध्व होकर वह स्वाधिष्ठान चक्र पर आ जाती है। यहाँ पर भी पहले वाले चक्र (मूलाधार चक्र) की भाँति क्रिया होनी शुरू होने लगती है। इसी प्रकार साधक अपने अभ्यासानुसार इस चक्र को स्वच्छ करके विकास करता रहता है। इस चक्र का विकासक्रम कितने दिन तक चलता रहेगा, इसका समय निश्चित नहीं होता है। अभ्यास के अनुसार जितनी जल्दी प्राणवायु अशुद्धता (मलिनता) को नष्ट कर देगी और चक्र को स्वच्छ करने लगेगी, उतनी ही शीघ्र उसका विकासक्रम शुरू हो जाएगा। इस चक्र का स्वच्छ होकर विकसित होना आवश्यक है, क्योंकि स्वाधिष्ठान चक्र जननेन्द्रिय के स्थान पर विद्यमान है इसलिए इस चक्र का प्रभाव जननेन्द्रिय पर पड़ता है। हो सकता है कि जब इस चक्र पर विकासक्रम चल रहा हो, तब अभ्यासी के अन्दर

कामेच्छा सम्बन्धी विचार आएँ। मगर चक्र विकसित होने के बाद मन के अन्दर शुद्धता आनी शुरू हो जाती है। स्वाधिष्ठान चक्र पर छः दल (पंखुड़ी) वाला कमल है। यहाँ पर भगवान ब्रह्मा विराजमान रहते हैं। मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्र पर साधकों को कोई विशेष अनुभव नहीं आते हैं, ऐसा अक्सर देखा जाता है। मगर अनुभूति होती है कि प्राणवायु यहाँ पर गति कर रही है। जब स्वाधिष्ठान चक्र पूर्ण रूप से विकसित हो जाता है, तब प्राणवायु धीरे-धीरे और ऊर्ध्व होने का प्रयास करने लगती है।

जब प्राणवायु नाभिचक्र पर आ जाती है, तब इस चक्र पर भी पिछले चक्रों जैसी क्रिया होने लगती है अर्थात् जैसे स्वाधिष्ठान चक्र और मूलाधार चक्र का विकासक्रम हुआ है, वैसे ही इस चक्र पर क्रिया होकर विकास होने लगता है। अभ्यासी को इस चक्र पर कुछ अनुभव दिखाई देने लगते हैं। जैसे– उसे दूर जलती हुई आग दिखाई दे सकती है। ऐसा लगता है, जैसे सामने की ओर दूर आग की ऊँची-ऊँची लपटे उठ रही हैं। कभी साधक आग की ओर जाता हुआ अपने आपको पाता है। इस प्रकार के अनुभव इसलिए आते हैं क्योंकि नाभि के स्थान पर जठराग्नि विद्यमान रहती है। वह जठराग्नि और तेज होती है तथा अनुभूति तो प्राणवायु की होती है कि इस चक्र पर प्राणवायु ठहरा हुआ है अथवा गति कर रहा है तथा नाभि का क्षेत्र गरम-गरम सा लगने लगता है। इस चक्र पर स्थित कमल में दस पंखुड़ियाँ होती हैं तथा इस चक्र के देवता भगवान विष्णु जी हैं। इस चक्र पर विकासक्रम कुछ दिनों तक चलता रहता है। जब यह चक्र प्राणवायु द्वारा पूर्ण विकसित हो जाता है, फिर प्राणवायु धीरे-धीरे ऊर्ध्व होने लगती है। कुछ दिन में प्राणवायु हृदय चक्र पर आ जाती है।

जब प्राणवायु हृदय चक्र पर आती है, तब साधक का मन ध्यान करने के लिए बहुत ही उत्सुक रहने लगता है। इसका कारण यह है कि यहाँ पर मन प्रसन्न रहने लगता है। अभ्यासी को प्राणों की अनुभूति तो होती ही है, साथ में उसे ढेर सारे अनुभव दिखाई देने लगते हैं। जैसे हरे-भरे पहाड़ हैं, पहाड़ों पर ऊँचे-ऊँचे पेड़ खड़े हैं, वायु तेज गति से चल रही है, वायु के कारण पेड़ हिल रहे हैं, स्वच्छ पानी बह रहा है, झरने का पानी ऊँचे पहाड़ों से गिर रहा है, उगता हुआ सूर्य

दिखाई देता है, बर्फीले पहाड़ चारों ओर फैले हुए हैं, चाँदनी रात्रि है, साधक उसी में विचरण कर रहा है, गाँव की पगडंडी है, पगडंडी में साधक चला जा रहा है, हरे-भरे खेत हैं, आकाश स्वच्छ है, आकाश में सफेद रंग के बादलों के टुकड़े बिखरे हुए इधर-उधर उड़ रहे हैं आदि। इस प्रकार के बहुत से अनुभव आते हैं। साधक को लगता है– हृदय चक्र बहुत अच्छा है, इसमें कितने अच्छे-अच्छे अनुभव आते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि अभ्यासी को अपने इष्ट के भी दर्शन यहाँ पर होते हैं। किसी-किसी साधक को कई बार अनुभव आते हैं। यदि अभ्यासी की भावना अपने गुरु के प्रति निरन्तर बनी हुई है, तो उसे अपने गुरु के भी दर्शन होने लगते हैं। अभ्यासी को अपने जीवन में इतना आनन्द कभी नहीं आया होगा, जितना वर्तमान में अनुभूत कर रहा होगा। हृदय चक्र के क्षेत्र में हृदय आता है, यहाँ स्पन्दन का भी कार्य हुआ करता है। चित्त में अति सूक्ष्म रूप से स्पन्दन हो रहा है वही कार्य स्थूल रूप से हृदय में हो रहा है। साधक की प्रसन्नता बहुत ज्यादा समय तक यहाँ पर नहीं रहती है क्योंकि हृदय चक्र का विकास होने के बाद प्राणवायु ऊर्ध्व होने का प्रयास करने लगती है। भगवत गीता में पढ़ने के लिए मिलता है – "कुछ योगी पुरुष अपान को प्राण में हवन करते हैं", यह वही जगह है। अपान वायु ऊर्ध्व होकर जब हृदय चक्र में आता है, तब इनका मिश्रण होता है। अपान के साथ वह प्राण भी आ जाते हैं, जैसे नाभिचक्र के क्षेत्र पर स्थित समान वायु भी अपान वायु के साथ मिलकर ऊर्ध्व होने लगती है। फिर अपान और समान दोनों प्राणवायु हृदय चक्र में जाकर प्राणवायु में मिश्रित हो जाते हैं। फिर यहाँ से तीनों प्रकार की प्राणवायु मिलकर ऊर्ध्व होने लगती हैं।

हृदय चक्र में बारह दल का कमल है। इस चक्र के देवता भगवान रूद्र (शंकर जी) हैं। इस चक्र से प्राणवायु के द्वारा विकास क्रम पूर्ण होने के बाद प्राणवायु ऊर्ध्व होने लगती है। वह कुछ दिनों बाद कण्ठचक्र के पास आ जाती है।

प्राणवायु कण्ठचक्र तक तो अक्सर कुछ ही महीनों में अभ्यास द्वारा पहुँच जाती है, मगर आगे का मार्ग बन्द होने के कारण आगे का मार्ग यहीं पर ठहर जाता है। बहुत से अभ्यासी ऐसे होते है कि वह कई वर्षों तक अभ्यास करते रहते हैं, मगर आध्यात्मिक उन्नति के नाम पर शून्य

रहते हैं। ऐसे अभ्यासी योग के नियमों का पालन नहीं करते हैं, उनके अभ्यास में त्रुटियाँ रहती हैं तथा उनका व्यवहार साधना के अनुकूल नहीं रहता है। इसीलिए उन्हें सफलता नहीं मिलती है। कण्ठचक्र पर रुकी हुई प्राणवायु कई वर्षों की साधना के बाद ही ऊपर की ओर जा पाती है। किसी-किसी का कण्ठचक्र नहीं खुल पाता है, अभ्यासी का जीवन समाप्त हो जाता है क्योंकि आगे की अवस्था अत्यन्त सूक्ष्म और व्यापकता वाली होती है। जब तक अभ्यासी के अन्दर की तृष्णा, मोह, आसक्ति आदि संसार के प्रति समाप्त नहीं होती है, तब तक कण्ठचक्र खुलने का समय नहीं आता है। जब तक अपने अन्दर की मलिनता निश्चित सीमा तक नष्ट नहीं होती है, तब तक अभ्यासी का कण्ठचक्र नहीं खुलता है, वह यहीं पर ठहरा रहेगा।

जब साधक की साधना कण्ठचक्र पर चल रही हो, तब उसे कम-से-कम 3-4 घण्टे का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। प्राणायाम भी अधिक से अधिक करना चाहिये, ताकि उसके अन्दर शुद्धता की मात्रा और बढ़ती रहे। कई महीनों के कठोर अभ्यास के बाद अभ्यासी की गर्दन पीछे की ओर जाने लगती है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि सिर का पिछला भाग पीठ से चिपक जाएगा, क्योंकि कण्ठ में प्राण रुका होने के कारण ऊपर की ओर दबाव देता रहता है तथा आगे का मार्ग बन्द रहता है। प्राण का दबाव ऊपर की ओर रहने के कारण गर्दन पीछे की ओर चली जाती है। जब गर्दन पीछे की ओर जाती है तब वहाँ पर दर्द सा महसूस होता है। कभी-कभी साधक पीछे की ओर गिर भी जाता है। इसका कारण प्राण ही है। प्राणों को आगे का मार्ग बंद मिलने के कारण इसी स्थान पर दबाव इतना ज्यादा देता है कि अभ्यासी का शरीर पीछे की ओर झुकता जाता है और कभी-कभी पीछे की ओर गिर भी जाता है। ऐसी अवस्था में साधक को पहले से कुछ पीछे की ओर बिछा लेना चाहिये, ताकि उसे किसी प्रकार की चोट न लगे।

कण्ठचक्र में प्राण इसलिए रुका रहता है क्योंकि यहाँ पर ग्रन्थि रहती है जो आगे का मार्ग बन्द किये रहती है। इस ग्रन्थि के कारण प्राण आगे की ओर नहीं जा पाता है। जब तक यह ग्रन्थि खुल नहीं जाती है तब तक आगे का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता है। इस ग्रन्थि को खुलने

में बहुत समय लग जाता है। सामान्य रूप से कुछ वर्ष अवश्य लग जाते हैं। बहुत से साधक इस जीवन में ग्रन्थि को खोल नहीं पाते हैं, वह इसी कण्ठचक्र में रुके रह जाते हैं। यह साधक के अभ्यास के ऊपर है कि वह कितने वर्षों में यह चक्र खोल पाता है। साधक के लिए यह चक्र अवश्य ही कठिनाई से युक्त होता है। अगर साधक इस समय गुरुनिष्ठ, ब्रह्मनिष्ठ, और सत्यनिष्ठ है, तब यहाँ पर कुछ शीघ्र सफलता मिलने लगती है। यहाँ पर कुछ सिद्धियों का भी स्थान है। ये सिद्धियाँ सभी साधकों को प्राप्त नहीं होती हैं, मात्र कुछ साधकों को ही मिल पाती हैं जो पूर्व जन्मों से उच्च श्रेणी के साधक होते आये हैं। इस चक्र पर स्थित कमल में 16 (सोलह) पंखुड़ियाँ होती हैं तथा इस चक्र का देवता जीव होता है। इन सोलह पंखुड़ियों में देवियों के स्थान निश्चित होते है, जो यहाँ पर विराजमान रहती है। यहाँ पर वासना का भी स्थान है। कभी-कभी साधक को उसकी वासना लड़की अथवा स्त्री के रूप में दिखाई भी देती है, इसलिए साधक को सदैव सतर्क रहना चाहिये।

कठोर अभ्यास करते हुए जब बहुत समय हो जाता है अथवा कण्ठचक्र जब थोड़ा सा खुल जाता है, तब उस कमल की एक अथवा दो पंखुड़ी खुल जाती है अर्थात् कण्ठचक्र का थोड़ा सा भाग खुल जाता है। इससे ध्यानावस्था के समय यहाँ रुका हुआ थोड़ा सा प्राण ऊपर की ओर चला जाता है। फिर वह प्राण आज्ञा चक्र पर आ जाता है, तब उसे ऐसा लगता है कि शायद उसका कण्ठचक्र खुल गया है। मगर फिर सोचता है कि उसका प्राण तो कण्ठचक्र पर भी रुका हुआ है। ऐसी अवस्था में मार्गदर्शक से जानकारी ले लेनी चाहिये। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसी अवस्था में साधक की कुण्डलिनी जाग्रत होकर ऊर्ध्व होने लगती है अथवा उसके गुरुदेव कुण्डलिनी जाग्रत कर देते हैं। फिर यह कुण्डलिनी ऊर्ध्व होकर जब कण्ठचक्र पर पहुँचती है, तब वह कण्ठचक्र खोलने में सहायता करती है। कुण्डलिनी शक्ति की सहायता से कण्ठचक्र शीघ्र खुल जाता है।

जब साधक की साधना कण्ठचक्र पर चल रही होती है, उस समय उसे एक विशेष प्रकार का ज्यादा अनुभव आता रहता है। उसे अपने सामने एक सुरंग-सी दिखाई देती है। वह

सुरंग में अन्दर की ओर चला जा रहा है। फिर अनुभव समाप्त हो जाता है। वह सोचता है – मुझे बार-बार सुरंग क्यों दिखाई देती है? मैं उसके अन्दर भी जाने लगता हूँ। इसी प्रकार का भिन्न-भिन्न तरह का अनुभव अक्सर आता रहता है। पहले अनुभवों में दिखाई देता है कि वह सुरंग के अन्दर अपने आप ठहरा हुआ है, फिर उसे सामने की ओर हल्का-सा अन्धकार दिखाई देता है। जैसे-जैसे साधक के अन्दर शुद्धता आने लगती है, तब उसे सुरंग के अन्दर अन्धकार दिखाई देना बन्द हो जाता है। फिर उसे अन्धकार की जगह पीले रंग का प्रकाश दिखाई देने लगता है। ऐसा लगता है कि मानो पीले रंग का प्रकाश सुरंग की गोलाकार बनी दीवारों से निकल रहा है। अब वह अपने आप को सुरंग के अन्दर आगे की ओर जाता हुआ देखता है। आगे सुरंग बन्द होती है, वह उसी स्थान पर खड़ा होकर बन्द स्थान को देखने लगता है। कुछ समय के कठोर अभ्यास के बाद दिखाई देता है कि वह बन्द स्थान कम्पन-सा कर रहा है, जैसे यहाँ पर भूकम्प-सा आ गया है। आगे की ओर का बन्द स्थान टूटने-सा लगता है। इसी प्रकार के भिन्नता को लेकर बहुत अनुभव आते हैं।

जब साधक की साधना कण्ठचक्र पर चल रही होती है, तब अभ्यासी को भ्रामरी प्राणायाम अधिक-से-अधिक करना चाहिये। भ्रामरी प्राणायाम से इस चक्र को खोलने में लाभ मिलेगा, क्योंकि भ्रामरी प्राणायाम के द्वारा जब कण्ठचक्र के क्षेत्र में कम्पन होता है, यही कम्पन यहाँ पर विद्यमान ग्रन्थि को प्रभावित करता रहता है। कम्पन के कारण यह ग्रन्थि खुलने का प्रयास करने लगती है क्योंकि यह ग्रन्थि सूक्ष्म नाड़ियों का गुच्छा-सा होता है। कम्पन से नाड़ियों का गुच्छा धीरे-धीरे पुष्ट होकर खुलने लगता है। इस चक्र को खोलने में सर्वांगासन भी सहयोग करता है। अभ्यासी को नियमित रूप से इस आसन को सही ढंग से अवश्य करना चाहिये। जब कण्ठचक्र खुलने वाला होता है तब वह क्षेत्र दुखने सा लगता है। नाड़ियों का गुच्छा खुलते समय यह थोड़ी-सी परेशानी सहनी ही पड़ती है। कभी-कभी साधक को एक आँख खड़े आकार में अथवा आड़े आकार में दिखाई देती है। इसका दर्शन कभी-कभी अपने आप होता रहता है।

कण्ठचक्र खुलने के बाद रुकी हुई सम्पूर्ण प्राणवायु ऊपर की ओर चली जाती है। साधक को अब गले का क्षेत्र ऐसा लगता है मानो यह पोला (खोखला) सा हो गया है। प्राणवायु ऊपर की ओर जाकर आज्ञा चक्र पर पहुँच जाती है, तब ऐसी अनुभूति होती है – मानो ढेर सारा प्राण आज्ञा चक्र पर आकर भर गया है। उसे इस अवस्था में भृकुटी के मध्य से थोड़ा सा ऊपर की ओर गुदगुदी-सी होती है। उसे अपने जीवन में ऐसी अनुभूति कभी भी नहीं होती है। वह अपने आप में प्रसन्न रहने लगता है। प्राण आज्ञा चक्र पर आकर विकास करना शुरू कर देता है। यहाँ पर भी एक ग्रन्थि होती है। यह ग्रन्थि पहले अभ्यासानुसार पुष्ट होती रहती है फिर क्रियाशील होने का प्रयास करने लगती है। जब यह ग्रन्थि सूक्ष्म रूप से क्रियाशील होती है, तब अभ्यासी को ऐसा लगता है – मानो कोई इस ग्रन्थि को नोचे डाल रहा है।

यहाँ पर स्थित दिव्य-दृष्टि भी धीरे-धीरे पैनी (शक्तिशाली) होने लगती है अर्थात् देखने की क्षमता बढ़ने लगती है। कुछ साधकों की दिव्य-दृष्टि कण्ठचक्र खुलते समय ही खुल जाती है, मगर उस समय उसके अन्दर देखने की क्षमता नहीं होती है। किसी साधक की दिव्य-दृष्टि तब खुलती है जब प्राणवायु आज्ञा चक्र पर आ जाती है। मैं एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यहाँ पर बताना चाहता हूँ – कुछ साधकों की दिव्यदृष्टि देख पाने में समर्थ नहीं होती है। कुछ साधकों की दिव्य-दृष्टि बहुत ही तीव्र गति से कार्य करती है तथा बारीकी से देख सकती है। ऐसे साधक गुरु पद के लिए योग्य होते हैं क्योंकि ऐसे साधकों ने पूर्व जन्मों में कठोर साधना की होती है। जिन साधकों ने पिछले जन्मों में साधना नहीं की होती है उनकी दिव्य-दृष्टि खुल जाने के बाद भी देख पाने में सामर्थ्यवान नहीं होती है। ऐसा उसके चित्त पर स्थित कर्माशयों के कारण होता है। एक ही अवस्था के साधकों की दिव्य-दृष्टि की योग्यता अलग-अलग होती है। इसलिए सभी साधक गुरु पद पर नहीं बैठ सकते हैं।

जब साधक की साधना आज्ञाचक्र पर हो रही होती है, उस समय प्राणों के दबाव के कारण उसका मस्तक दुखता सा रहता है अथवा कभी-कभी अपने आप गुदगुदी सी होती रहती है। ऐसा भी कभी-कभी लगता है कि भृकुटी के मध्य वाला क्षेत्र टूटा सा जा रहा है। ऐसा तीव्र

गति से साधना करने वालों को होता है। इस चक्र पर कमल की दो पंखुड़ियाँ होती है। इस चक्र के देवता शिव है। इस चक्र के विकासक्रम के समय साधक को अक्सर अनुभूति सी होती है कि वह क्षेत्र नोचा सा जा रहा है तथा कभी-कभी ध्यानावस्था के समय दोनों आँखें अन्दर की ओर भिंचती (खिंचती) सी है। ऐसा लगता है आँखें टूट कर सिर के पीछे की ओर चली जाएँगी।

कुछ समय के बाद जब आज्ञा चक्र खुल जाता है, फिर प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र की ओर गमन कर जाती है। हाँ, मैं यह बता दूँ कि जब कण्ठचक्र खुल जाता है, इसके बाद ब्रह्मरन्ध्र द्वार तक तीन अलग-अलग मार्ग हो जाते हैं – **1.** सीधा मार्ग, **2.** पूर्व मार्ग, **3.** पश्चिम मार्ग।

सीधा मार्ग – कण्ठचक्र से सीधे ऊपर की ओर 90 अंश का कोण बनाता हुआ ब्रह्मरन्ध्र द्वार तक पहुँचता है।

पूर्व मार्ग – यह मार्ग कण्ठचक्र से सामने (मुँह) की ओर से जाता हुआ आज्ञाचक्र पर आता है, फिर आज्ञाचक्र से थोड़ा सा ऊपर की ओर से होता हुआ ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर पहुँचता है।

पश्चिम मार्ग – कण्ठचक्र से सिर के पीछे की ओर से होता हुआ लघु मस्तिष्क के अन्दर से ब्रह्मरन्ध्र द्वार तक पहुँचता है। तीनों मार्ग अन्त में ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर मिल जाते है। इन तीनों मार्ग से प्राणवायु गति करके ब्रह्मरन्ध्र द्वार तक पहुँचती है।

जब कण्ठचक्र खुलता है तब प्राणवायु सीधे मार्ग पर तथा पूर्व मार्ग पर सरलतापूर्वक चली जाती है। मगर पश्चिम मार्ग बन्द होने के कारण उस मार्ग पर प्राणवायु नहीं जा पाती है। पश्चिम मार्ग को कुण्डलिनी द्वारा प्रशस्त कर दिया जाता है, तब प्राणवायु इस मार्ग से सरलतापूर्वक चली जाती है। फिर आज्ञाचक्र खुल जाने के बाद प्राणवायु तीनों मार्गों से आगे की ओर चली जाती है और ब्रह्मरन्ध्र पर एकत्र हो जाती है। ब्रह्मरन्ध्र सिर के अन्दर सबसे ऊपरी भाग में स्थित है। इस अवस्था में साधक की सविकल्प समाधि लगती है। अब उदान वायु अधिक क्रियाशील हो जाती है। जब प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर पहुँचती है, तब साधक को सिर के ऊपरी भाग में गुदगुदी-सी लगती है अथवा प्राणों का दबाव महसूस होता है। इस अवस्था में

प्राणों के कारण उसकी समाधि अधिक समय तक लगी रहती है। ऐसा लगता है– मैं समाधि में बैठा रहूँ। इसलिए अभ्यासी के बैठने का समय बहुत अधिक बढ़ जाता है। साधक की साधना ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर कई वर्षों तक चलती रहती है। उस समय प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र को खोल नहीं पाती है, इस ब्रह्मरन्ध्र द्वार की बनावट विशेष तरह की होती है।

यहाँ पर अभ्यास करते समय विभिन्न प्रकार के नाद सुनाई देते हैं। मैंने भी कई प्रकार के नाद सुने हैं, जब मेरी साधना यहाँ पर चल रही थी। प्रमुख रूप से दस प्रकार के नाद होते हैं। नादों में आखिरी नाद '**मेघनाद**' होता है। साधक को समाधि अवस्था में ऐसा लगता है, मानो बहुत जोर-जोर से बादल गरज रहे हों। जिस प्रकार से बरसात के समय बादल गरजते हैं, उसी प्रकार की आवाज आती है। उस समय उसे उगता हुआ सूर्य जैसा भी दिखाई देता है। ऐसा लगता है मानो दहकता हुआ सूर्य आकाश में प्रकट हो गया है। यह सूर्य जैसा ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर का क्षेत्र होता है जो इस रूप में दिखाई देता है। जब कुण्डलिनी द्वारा ब्रह्मरन्ध्र द्वार खोल दिया जाता है, तब द्वार पर रुकी हुआ सम्पूर्ण प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर चली जाती है। जिसकी साधना उग्र होती है वह साधक कुछ समय के लिए अचेत सा हो जाता है। जिसका अभ्यास धीमी गति से चल रहा होता है, उसके साथ ऐसा नहीं होता है, वह शान्त बैठा रहता है। ब्रह्मरन्ध्र खुलने के बाद बादलों की गर्जना वाला नाद (**मेघनाद**) सुनाई देना बन्द हो जाता है।

प्राणों का ब्रह्मरन्ध्र द्वार के अन्दर जाने पर अभ्यासी की निर्विकल्प समाधि लगने लगती है। जब तक प्राण ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर रहते हैं, तब तक निर्विकल्प समाधि रहती है। जब प्राण ब्रह्मरन्ध्र से बाहर नीचे आ जाता है, तब अभ्यासी की सविकल्प समाधि लगती है क्योंकि शुरूआत में प्राण ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर थोड़ी देर ही रह पाता है, फिर नीचे की ओर आ जाता है। जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता है, वैसे-वैसे प्राण ज्यादा देर तक ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर ठहरा रहता है। ब्रह्मरन्ध्र द्वार खुलने के बाद अभ्यासी की समाधि में बैठने की क्षमता बहुत बढ़ जाती है। जब निर्विकल्प समाधि लगती है, तब समय का भान नहीं होता है, दो-तीन घण्टे बड़े आराम से बीत जाते हैं। फिर समय बढ़ता रहता है।

एक महत्त्वपूर्ण बता रहा हूँ – जब ब्रह्मरन्ध्र द्वार खुल जाता है, तब प्राण पूर्ण रूप से ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर चला जाता है, उस समय अभ्यासी को एक अनुभव आता है – बहुत तेज प्रकाश सर्वत्र फैल गया है अथवा फैला हुआ है, वह उस प्रकाश में खड़ा हुआ या प्रकाश में स्नान-सा कर रहा है। ऐसा प्रकाश उसने कभी नहीं देखा था। ऐसा लग रहा होता है मानो करोड़ों सूर्य फट पड़े हो अथवा करोड़ों सूर्य एक साथ चमकने लगे हों, वह उस प्रकाश में खड़ा हुआ है। बहुत से अभ्यासी इस अवस्था में भ्रमित हो जाते हैं। उन्हें लगता है – मैंने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, उनका स्वरूप करोड़ों सूर्य के समान है, मैं ब्रह्म के अन्दर खड़ा हुआ हूँ। वह अज्ञानतावश इसी को ब्रह्म समझ लेते है। फिर अपने आप को पूर्ण समझने की गलती कर बैठते हैं और सोचते है कि मैंने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, अब मुझे अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं है आदि। अब इसका उत्तर देता हूँ – अभ्यासी अज्ञानतावश जिसे ब्रह्म समझ रहा है, वह अहंकार की एक अत्यन्त सात्विक और सशक्त वृत्ति होती है जो इस रूप में दिखाई देती है। यह वही वृत्ति होती है जो ब्रह्मरन्ध्र खुलने से पहले उगते हुए सूर्य की तरह दिखाई दे रही थी, वही सूर्य के समान दिखाई देने वाली वृत्ति का स्वरूप उस समय दिखाई देता है क्योंकि यह वृत्ति अत्यन्त शुद्ध व व्यापक होती है। वर्तमान समय में कुछ ऐसे अभ्यासी इसी प्रकार के भ्रम में हैं।

कुण्डलिनी-शक्ति बहुत अधिक समय तक ब्रह्मरन्ध्र द्वार के अन्दर अपना मुँह नहीं प्रवेश किए रहती है। कुछ समय के बाद फिर वह वहाँ से उलट पड़ती है और वापस आने लगती है। तब वह आज्ञाचक्र होते हुए नीचे की ओर अपना नया मार्ग तालू के अन्दर से बनाती हुई धीरे-धीरे हृदय (अनाहत चक्र) में आ जाती है। बहुत समय तक अभ्यास करने के बाद कुण्डलिनी अपनी गति छोड़कर स्थिर हो जाती है। फिर वह अपना अग्नि तत्त्व वाला स्वरूप छोड़कर वायु रूप में परिवर्तित हो जाती है, फिर अभ्यासी के शरीर में सर्वत्र व्याप्त हो जाती है, क्योंकि अग्नि तत्त्व से सम्बन्धित विकासक्रम पूर्ण कर लिया है। अब वायु तत्त्व से सम्बन्धित अपना विकासक्रम की शुरूआत कर दी है एवं अभ्यासी के शरीर में वायु के रूप में व्याप्त हो जाती है। जब कुण्डलिनी अनाहत चक्र में (हृदय में) आती है तब वह उस क्षेत्र की वायु सोखने लगती है,

उस समय साधक को विचित्र-सी अनुभूति होने लगती है, ऐसा कुछ बार ही होता है। कुण्डलिनी स्थिर होने के बाद उसकी अनुभूति नहीं होती है।

जब अभ्यासी की कुण्डलिनी पूर्ण यात्रा करके स्थिर हो जाती है, तब अभ्यासी की गुरु पद बैठने की योग्यता आ जाती है। वह दूसरों का मार्गदर्शन भी कर सकता है तथा शक्तिपात भी कर सकता है। इस अवस्था में शक्तिपात ज्यादा शिष्यों पर किया जा सकता है। यदि कुण्डलिनी स्थिर नहीं हुई है तब शक्तिपात ज्यादा शिष्यों पर करने से, शक्तिपात का प्रभाव कम होता है तथा शक्तिपातकर्ता का योगबल तेजी से घटने लगता है। इस अवस्था में शुद्ध प्राण तत्त्व ज्यादा मात्रा में निकालने की क्षमता होती है। मगर आजकल गुरु पद पर कोई भी बैठ जाता है और ढेर सारे शिष्य बना लेता है। ऐसे शिष्यों की योग्यता भविष्य में कितनी हो पायेगी, यह कहा नहीं जा सकता है।

सहस्त्रार चक्र

जब अभ्यासी की कुण्डलिनी पूर्ण यात्रा करके स्थिर हो जाती है, फिर भी वह जीवन के अन्त तक योग के अभ्यास में लगातार लगा रहता है, उस समय उसके चित्त पर स्थित कर्माशय नष्ट हुआ करते हैं। अगर ऐसा अभ्यासी गुरु बनकर जीवन व्यतीत करता है, तब उसके कर्माशय कम मात्रा में नष्ट होते हैं। अगर वह गुरु पद पर नहीं बैठता है और कठोर अभ्यास में निरन्तर लगा रहता है तब उसके कर्माशय ज्यादा मात्रा में नष्ट होते हैं। बहुत से अभ्यासी कुण्डलिनी स्थिर होने पर ही अपने आप को पूर्ण समझने लगते हैं, मगर ऐसा बिल्कुल नहीं है। अभी उसे बहुत लम्बी यात्रा तय करनी शेष है। ऐसा समझो – चित्त पर स्थित कर्माशयों को नष्ट करने का समय आ गया है। अभी तो अभ्यासी को कई जन्म और ग्रहण करने होंगे, उन सभी जन्मों में कठोर अभ्यास करते हुए कुण्डलिनी की पूर्ण यात्रा करके उसे स्थिर करना होगा, उसके बाद अन्तिम जन्म में सहस्त्रार चक्र खुलता है। बहुत से अभ्यासी ब्रह्मरन्ध्र द्वार खुल जाने को ही सहस्त्रार चक्र का खुलना समझ लेते हैं। यह जीवन की बहुत बड़ी भूल होती है। अन्तिम जन्म में सहस्त्रार चक्र खुलने के बाद जब चक्र का विकासक्रम चल रहा होता है, तब उसे धीरे-धीरे अभ्यासानुसार पाँचों तत्त्वों का साक्षात्कार होता है। इन पाँचों तत्वों के साक्षात्कार से प्रकृति (अपरा) की वास्तविकता के विषय में ज्ञान होने लगता है। यह प्रक्रिया कई वर्षों तक चलती रहती है।

जब सहस्त्रार चक्र के विकासक्रम की शुरूआत होती है, तभी अभ्यासी के चित्त पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य हो जाता है। यह ऋतम्भरा-प्रज्ञा सत्य को भरने वाली होती है अर्थात् चित्त पर स्थित अविद्या को धीरे-धीरे अभ्यासानुसार नष्ट करती रहती है। कई वर्षों तक अभ्यास करने पर अविद्या नष्ट हो जाती है। इस अविद्या को यह ऋतम्भरा-प्रज्ञा मूल से उखाड़ कर फेंक देती है और चित्त पर ज्ञान के प्रकाश को फैलाती रहती है। अन्त में चित्त ज्ञान के प्रकाश से युक्त हो जाता है। यह प्रक्रिया कई वर्षों में पूर्ण हो पाती है। इसे जीवन्मुक्त अवस्था कहते हैं। जीवन्मुक्त हुआ पुरुष सिर्फ अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है अथवा सिर्फ ईश्वर से

ही प्रेम करता है। सहस्त्रार चक्र के विकास हो जाने पर अभ्यासी अत्यन्त शक्तिशाली हो जाता है, फिर सूक्ष्म रूप से शक्ति में उसकी बराबरी अन्य योगी पुरुष नहीं कर सकते हैं।

जिस अन्तिम जन्म में सहस्त्रार का विकसित होना होता है, उस अभ्यासी को जीवन में निश्चय ही बहुत क्लेशात्मक कर्माशयों को भोगना होता है, क्योंकि इस प्रकार के क्लेशात्मक कर्माशय उसके चित्त पर स्थित होते हैं। ये क्लेशात्मक कर्माशय संसार की वास्तविकता का भान करा देते हैं, अर्थात् अभ्यासी को घर-परिवार, मुहल्ला, गाँव और रिश्तेदारों से घोर अपमान व कष्ट मिलता रहता है। समाज भी तरह-तरह के कष्ट देता रहता है। एक समय ऐसा भी आता है जब उसका सब कुछ छूट जाता है, तब अभ्यासी को संसार की वास्तविकता का ज्ञान होता है कि घर का कोई भी रिश्ता हमारा नहीं है। इस प्रकार की अनुभूति व भोगों से मैं भी कई वर्षों से गुजर रहा हूँ। तब मैं ये सभी जानकारी प्राप्त कर पाया हूँ। इस प्रकार के कष्टों को भोगने से क्लेशात्मक कर्माशयों का नाश होता है तथा तब पर-वैराग्य उत्पन्न होता है। जब इस प्रकार के क्लेशात्मक कर्म भोग रहा होता है तब उसे कष्ट तो मानसिक रूप से होता ही है, मगर वह अपने आप में अन्तर्मुखी हुआ ईश्वर अथवा अपने स्वरूप को याद करता रहता है। फिर भी सांसारिक दृष्टि में दिखाई देता है कि योगी कष्ट भोग रहा है, मगर अन्दर से कष्टों की अनुभूति क्षणिक देर के लिए होती है, फिर उसका चित्त शान्त हो जाता है। जब तत्त्वज्ञान प्राप्त होने लगता है, तब उसे किसी प्रकार का क्लेश नहीं होता है क्योंकि उसकी सोच बदल जाती है। जो कुछ अच्छा-बुरा व्यवहार संसार के द्वारा हो रहा है, वह स्थूल शरीर के साथ हो रहा है, मेरे साथ नहीं हो रहा है, मैं स्थूल शरीर नहीं हूँ, ऐसा सोचने लगता है।

सहस्त्रार चक्र का विकास अभ्यासी के अन्तिम जन्म में होता है। इस सम्पूर्ण संसार में सहस्त्रार चक्र खुले हुए योगी कितने होंगे, यह मैं लिखना नहीं चाहता हूँ। जब सहस्त्रार चक्र खुलने वाला होता है, उसके कुछ समय पूर्व उसका विवेक जाग्रत हो जाता है, जो आत्मा और चित्त की भिन्नता का ज्ञान कराता है। फिर अपरा-प्रकृति और परा-प्रकृति की आपस में सन्धि होती है। अभ्यासानुसार कुछ समय बाद उसके चित्त पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य हो जाता है।

अभ्यासी को दिखाई देता है– आकाश में गुलाब के फूल की कली जैसी बहुत बड़ी कली है, इतनी बड़ी कली उसने कभी नहीं देखी होती है। वह कली विकसित हो रही है इसका विकसित होना समाधि में दिखाई देता है। कभी-कभी समाधि अवस्था में देखता है कि वह किसी विशाल फूल की पंखुड़ियों के ऊपर आगे की ओर चला जा रहा है, उसी समय उसकी समाधि भंग हो जाती है और आँखें खुल जाती हैं। अनुभव में जो दिखाई दिया – वह सहस्त्रदल कमल के ऊपर आगे की ओर चल रहा है अर्थात् उसका (सहस्त्रार चक्र का) विकास हो रहा होता है। अभ्यासी को इस प्रकार के बहुत अनुभव आते हैं कि वह फूल की पंखुड़ियों के ऊपर चला जा रहा है। कुछ महीनों के अभ्यास के बाद उस फूल के मध्य में शिव और शक्ति को विराजमान हुआ देखता है। विकसित होने पर यह फूल सम्पूर्ण आकाश में (अन्तरिक्ष में) व्याप्त हो जाता है। उस समय आकाश नहीं दिखाई देता है बल्कि जहाँ तक दृष्टि (दिव्य-दृष्टि) जाती है, इस फूल की पंखुड़ियाँ सर्वत्र विद्यमान रहती है। अर्थात् यह फूल सर्वत्र व्याप्त रहता है। बहुत समय तक अभ्यास करने के बाद उस विकसित फूल पर स्वयं अपने आप को बैठा हुआ देखता है। शुरूआत में वह अपने आपको अकेला बैठा हुआ देखता है, कुछ समय के बाद अपने बायीं ओर एक अद्वितीय सुन्दर स्त्री को बैठे हुए देखता है। इस अवस्था में अभ्यासी जीवेश्वर की उपाधि से युक्त होता है।

ऊपर लिखी हुई अवस्था अभ्यासी को भविष्य में प्राप्त होती है, पहले अनुभव में दिखाई देता है फिर कुछ वर्षों बाद वही योग्यता उसके अन्दर आ जाती है। अर्थात् ऊपर लिखी हुई स्थिति अभी प्राप्त नहीं हुई है, यह स्थिति कुछ वर्षों बाद आएगी, अभी वहाँ तक क्षणिक देर के लिए गति है। गति और स्थिति में अन्तर होता है। गति का अर्थ है – वहाँ तक जाकर वापस आ जाना। स्थिति का अर्थ है – बिना प्रयास किये हुए अभ्यासी उसी अवस्था में बना रहे। स्थिति प्राप्त होने में योगियों को भिन्न-भिन्न समय लगता है। जैसे– संत ज्ञानेश्वर, आदिगुरु शंकराचार्य, गौतम बुद्ध आदि। मैं भी सन् 2001 से लेकर अभी तक अर्थात् 17 वर्षों से सहस्त्रार चक्र के क्रम विकास के अन्तिम अवस्था का अभ्यास कर रहा हूँ, तथा समाज का किसी-न-किसी रूप में कल्याण भी कर रहा हूँ। जो कल्याण समाज में कर रहा हूँ, वह सब मेरे अभ्यास के अन्तर्गत

ही आता है। इसलिए जब मेरे अन्दर कुछ प्रेरणा होती है अथवा जिसके लिए प्रेरणा होती है, उसके कल्याण के लिए प्रयासरत हो जाता हूँ। किसी के कहने पर अथवा दबाव में कोई कार्य नहीं करता हूँ।

साधकों! सहस्त्रार चक्र की संरचना तथा अन्य चक्रों की संरचना में बहुत ही ज्यादा भिन्नता होती है। इसलिए इस चक्र के विकसित होने की पूर्ण प्रक्रिया में कई वर्ष लग जाते हैं, क्योंकि पाँचों तत्वों का साक्षात्कार क्रमशः होता है तथा ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य भी होता है। फिर अपने ज्ञान के प्रकाश से चित्त पर स्थित अविद्या को नष्ट करना होता है। इस चक्र पर स्थित कमल की पंखुड़ियों की कोई भी गिनती नहीं कर सकता है, क्योंकि ढेरों पंखुड़ियाँ दिखाई देती है। अभ्यासी स्वयं अपने आपको कमल की पंखुड़ियों के ऊपर चलता देखता है। सहस्त्रार चक्र ज्ञान का आयतन है। जब तक सहस्त्रार चक्र विकसित नहीं होता है, तब तक योगी के अन्दर अविद्या विद्यमान रहती है। यह चक्र विकसित होने के बाद अभ्यासी के अन्दर सम्पूर्ण प्रकृति के प्रति आसक्ति नष्ट हो जाती है। वैराग्य से युक्त हुआ योगी शान्त हो जाता है, तथा ईश्वर की प्रेरणा से वह समाज का कल्याण करता रहता है और वह समाज के प्रति आसक्त नहीं होता है। कुछ जीवन्मुक्त योगी बिल्कुल शान्त व चुप होकर गुप्त रूप से अपना जीवन जीने लगते हैं। कुछ योगी ईश्वर की इच्छानुसार कार्य भी करते देखे गये हैं। इस अवस्था में अभ्यासी निरूद्धावस्था का अभ्यास किया करते हैं अर्थात् अपनी निरूद्धावस्था को बढ़ाते रहते हैं। अभ्यास के द्वारा यह अवस्था धीरे-धीरे बढ़ती है। सहस्त्रार चक्र में हजार दल का कमल होता है। इस चक्र के देवता स्वयं निर्गुण ब्रह्म को माना जाता है।

चक्रों का वर्णन

1. मूलाधार चक्र

1. **चक्र का स्थान**– यह चक्र गुदाद्वार से थोड़ा ऊपर स्थित होता है। रीढ़ के सबसे निचले नुकीले क्षेत्र से थोड़ा सा ऊपर, जहाँ चौड़ा सा स्थान होता है।
2. **कमल**– इस चक्र पर चार दल का कमल होता है।
3. **तत्त्व**– इस चक्र पर पृथ्वी तत्त्व का मुख्य स्थान है।
4. **वायु का स्थान**– अपान वायु का मुख्य स्थान होता है।
5. **देवता**– इस चक्र पर भगवान श्री गणेश जी का निवास स्थान है।

2. स्वाधिष्ठान चक्र

1. **चक्र का स्थान**– यह चक्र जननेन्द्रिय के पीछे की ओर और मूलाधार चक्र से थोड़ा सा ऊपर (दो अंगुल) स्थित होता है।
2. **कमल**– इस चक्र पर छ: (6) दल का कमल होता है।
3. **तत्त्व**– इस चक्र पर जल तत्त्व का प्रमुख स्थान है।
4. **वायु का स्थान**– इस चक्र पर व्यान वायु का मुख्य स्थान है।
5. **देवता**– इस चक्र के देवता भगवान ब्रह्मा जी हैं।

3.नाभि चक्र

1. **चक्र का स्थान**– नाभि के पीछे की ओर यह चक्र स्थित होता है।
2. **कमल**– इस चक्र पर दस (10) दल का कमल होता है।
3. **तत्त्व**– इस चक्र पर अग्नि तत्त्व का मुख्य स्थान है।
4. **वायु का स्थान**– इस चक्र पर समान वायु का मुख्य स्थान है।
5. **देवता**– इस चक्र के देवता भगवान विष्णु जी हैं।

4.हृदय चक्र

1. **चक्र का स्थान**– हृदय के पीछे यह चक्र विद्यमान रहता है।
2. **कमल**– इस चक्र पर बारह (12) दल का कमल होता है।
3. **तत्त्व**– इस चक्र पर वायु तत्त्व का प्रमुख स्थान है।
4. **वायु का स्थान**– इस चक्र पर प्राणवायु विद्यमान रहता है।
5. **देवता**– इस चक्र के देवता भगवान रूद्र हैं।

5.कण्ठ चक्र

1. **चक्र का स्थान**– यह चक्र कण्ठ के क्षेत्र में स्थित होता है।
2. **कमल**– इस चक्र पर सोलह (16) दल का कमल है।
3. **तत्त्व**– इस चक्र पर आकाश तत्त्व का प्रमुख स्थान है।
4. **वायु का स्थान**– इस चक्र पर उदान वायु का मुख्य स्थान है। यह सिर के क्षेत्र में कार्य करता है।
5. **देवता**– इस चक्र का देवता जीव को माना गया है।

6.आज्ञा चक्र

1. **चक्र का स्थान**– यह चक्र भृकुटी के मध्य में थोड़ा सा ऊपर स्थित होता है।
2. **कमल**– इस चक्र पर दो दल का (2) कमल है।
3. **देवता**– भगवान शिव इस चक्र पर विराजमान रहते हैं।

7.सहस्त्रार चक्र

1. **चक्र का स्थान**– यह चक्र ब्रह्मरन्ध्र द्वार से ऊपर की ओर सिर के सबसे ऊपरी स्थान पर स्थित रहता है।
2. **कमल**– इस चक्र पर एक हजार दल (पंखुड़ियाँ) का कमल है।
3. **देवता**– इस चक्र के देवता स्वयं निर्गुण ब्रह्म को माना गया है।

जब साधक ध्यान करना शुरू कर देता है, फिर उचित समय के बाद भी बहुत से साधकों को अपान वायु ऊर्ध्व होने की अनुभूति नहीं होती है, तथा जब अभ्यास के द्वारा उनके निचले चारों चक्र मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, नाभिचक्र और हृदय चक्र खुल जाते हैं, तब भी उन्हें चक्र खुलते हुए अथवा चक्र खुले हुए दिखाई नहीं देते हैं। इसका कारण है कि उनके चित्त में अशुद्धता (तमोगुण) ज्यादा मात्रा में विद्यमान रहती है क्योंकि ऐसे साधकों ने पूर्व जन्मों में योग का अभ्यास नहीं किया होता है। जिन साधकों ने पूर्व जन्मों में योग का अभ्यास किया होता है उनकी वर्तमान जन्म में साधना अच्छी चलती रहती है तथा चित्त में शुद्धता भी उचित मात्रा में होती है एवं पूर्व जन्मों के साधना सम्बन्धी संस्कार भी विद्यमान रहते है। तब उन्हें ध्यानावस्था में चक्रों का विकासक्रम स्पष्ट दिखाई देता है एवं चक्र खुलते हुए भी दिखाई देते हैं। इसलिए ऐसे सभी अभ्यासियों को चाहिये कि कठोर प्राणायाम के द्वारा अपने अन्तःकरण में शुद्धता बनाए रखें, ताकि उसे अपने शरीर के अन्दर का विकासक्रम होता हुआ दिखाई देता रहे।

यही कारण होता है बहुत से साधकों को ध्यानावस्था में उनकी प्राणवायु की अनुभूति नहीं होती है तथा चक्र खुलते हुए भी नहीं दिखाई देते। तब साधक सोचता है कि उसकी साधना में उन्नति क्यों नहीं हो रही है, मगर वास्तव में उनकी उन्नति हो रही होती है।

इसी प्रकार बहुत से ऐसे भी साधक होते हैं जिनकी साधना की शुरूआत भी नहीं हुई है, फिर भी वह सोचने लगते हैं कि मेरी योग में अवस्था यहाँ तक पहुँच गयी है, जबकि ऐसा नहीं होता है। मैं पहले लिख चुका हूँ कि मनुष्य के शरीर में सूक्ष्म नाड़ियाँ दूषित प्राणवायु के कारण बन्द सी बनी रहती हैं अथवा निष्क्रिय रहती हैं। जैसे मस्तिष्क की सूक्ष्म नाड़ियाँ ज्यादातर निष्क्रिय बनी रहती हैं। जब कोई भी अभ्यासी प्राणायाम करना शुरू कर देता है तथा ध्यान भी करना शुरू कर देता है, तब शुद्ध प्राणवायु से निष्क्रिय सी हुई सूक्ष्म नाड़ियाँ क्रियाशील होने लगती हैं। जब ये नाड़ियाँ क्रियाशील होती हैं, तब साधक सोचने लगता है कि उसका अमुक चक्र खुल गया है अथवा खुल रहा है, जबकि वास्तव में ऐसा नहीं होता है। इस अवस्था में साधक भ्रमित हो जाता है। ऐसी अवस्था में योग्य गुरु द्वारा ही जानकारी प्राप्त कर ले तो अच्छा है, वह सत्य से अवगत करा देगा। शरीर में ज्यादातर सूक्ष्म नाड़ियाँ रीढ़ वाले क्षेत्र से निकलती है तथा मस्तिष्क के अन्दर सूक्ष्म नाड़ियों का जाल सा बिछा हुआ है। शरीर में प्राणवायु के कारण नाड़ियों में क्रियाशीलता होने पर अनुभूति होती है। जब साधक ध्यान पर बैठता है और मंत्र जाप व त्राटक करता है उस समय भी नाड़ियों के अन्दर प्राणवायु की हलचल होने की अनुभूति होती है। जब किसी भी तरीके से मन एकाग्र होने लगता है तब प्राण सूक्ष्म नाड़ियों में क्रियाशील होने लगता है।

ऐसी अवस्था में सिर के अन्दर नाड़ियों में प्राणों की हलचल होती हुई अनुभूत होती है। कभी-कभी सिर के ऊपरी स्थान पर अथवा इधर-उधर प्राण क्रियाशील होता हुआ महसूस होता है। ध्यान करते समय मन को आज्ञा चक्र पर एकाग्र करते हैं। वहाँ पर स्थित नाड़ियों में प्राणवायु की क्रिया होने लगती है, इससे साधक के मस्तक (आज्ञाचक्र) पर भारीपन, दुखना, गुदगुदी, खुजली आदि होने लगती है। अभ्यासी सोचता है कि मेरा आज्ञा चक्र खुल गया है।

इसी प्रकार सिर के ऊपरी भाग में सूक्ष्म नाड़ियों के अन्दर प्राणवायु की क्रियाशीलता शुरू होने लगती है। ऐसी अवस्था में बहुत से साधक सोचने लगते हैं कि उनका सहस्त्रार चक्र खुल गया है। मुझसे बहुत से साधकों ने कहा (जिनकी गिनती दस से भी ज्यादा है) कि उनका सहस्त्रार चक्र खुला हुआ है। कुछ स्त्रियों और पुरुषों ने सन्देश देकर भी मुझे बताया तथा कुछ ने तो प्रत्यक्ष ही मुझसे कह दिया कि हमारे सातों चक्र खुले हुए है अथवा सहस्त्रार चक्र खुला हुआ है। जब मैंने उन्हें समझाया कि आपका सहस्त्रार चक्र नहीं खुला हुआ है, आपको भ्रम हो गया है, तब ज्यादातर साधकों ने मुझसे सम्पर्क तोड़ लिया। उन सभी को हमारा समझाना अच्छा नहीं लगा। इसी बात पर एक सज्जन बहुत ज्यादा नाराज हो गये, मुझसे सम्पर्क भी तोड़ लिया और हमारा विरोध भी करने लगे क्योंकि मैंने उनसे यह कह दिया था कि आपकी पत्नी को यह योग्यता प्राप्त नहीं है, उन्हें भ्रम हो गया है, इतनी जल्दी ऐसी सफलता नहीं मिलती है, ऐसी अनुभूति प्राणवायु के कारण हो रही है।

साधकों! आजकल बहुत से अभ्यासी भ्रम में बने हुए हैं कि उनका सहस्त्रार खुला हुआ है। पहले भी मैंने अपनी पुस्तक में लिखा हुआ है कि सहस्त्रार चक्र अंतिम जन्म में ही खुलता है। तथा अभ्यासी कई प्रकार की शक्तियों से युक्त हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त करने वाले अभ्यासी के जीवन जीने का तरीका ही बदल जाता है, क्योंकि वह तत्त्वज्ञान से युक्त हो जाता है। ऐसे योगियों की संख्या इस सम्पूर्ण भूमि पर अधिक नहीं होती है। ऐसे पुरुषों को पहचानना असम्भव सा होता है, क्योंकि वह अपने आपको किसी न किसी प्रकार से छिपाये रहते हैं अथवा दिखने में संसारी मनुष्यों जैसे बने रहते हैं। बहुत से लोगों ने अभी साधना करने की शुरुआत भी नहीं की है, मगर सहस्त्रार खुलने की बात करने लगते हैं। अगर उनका सहस्त्रार चक्र खुल गया है, तब उसकी योग्यता भी उनके अन्दर आनी चाहिये। पूर्वकाल के ऋषि, मुनि और तपस्वी ढेरों सालों तक जंगल में रहकर कठोर साधना करते रहते थे, तब भी उनका सहस्त्रार चक्र नहीं खुलता था; बहुत कम योगियों का ही सहस्त्रार चक्र खुला हुआ था। अनन्त जन्मों के कर्माशय चित्त पर विद्यमान रहते हैं, उन कर्मों को पूर्णरूप से नष्ट करना होता है। इसके बाद आखिरी जन्म में सहस्त्रार चक्र खुलता है। प्रकृति के भी कुछ नियम होते हैं। उन नियमों को

सभी मनुष्यों को अथवा अभ्यासियों को मानना ही पड़ता है। सहस्त्रार चक्र पूर्ण विकसित होने पर जन्म, आयु और मृत्यु से मुक्त हो जाता है। फिर कभी जन्म ग्रहण करने के लिए भूलोक पर नहीं आना पड़ता है।

कुण्डलिनी-शक्ति

कुण्डलिनी-शक्ति के विषय में हमारी पहली पुस्तक '**सहज ध्यान योग**' और तीसरी पुस्तक '**तत्त्वज्ञान**' में विस्तार से लिखा हुआ है। हमारी दूसरी पुस्तक '**योग कैसे करें**' में मेरे स्वयं के अनुभव लिखे हुए है। उसमें कुण्डलिनी के विषय में पूरी तरह से लिखा हुआ है। जब मेरी कुण्डलिनी जाग्रत हुई थी, तब से लेकर कुण्डलिनी-शक्ति की पूर्ण यात्रा व स्थिर होने तक उसमें पढ़ने को मिल जाएगा। इस पुस्तक में वायु तत्त्व से सम्बन्धित लिख रहा हूँ, इसलिए प्राणवायु से सम्बन्धित ही कुण्डलिनी के विषय में थोड़ा-सा लेख लिखना पड़ रहा है क्योंकि प्राणवायु और कुण्डलिनी-शक्ति का आपस में गहरा रिश्ता है। बहुत से साधक व जिज्ञासु भी कुण्डलिनी के विषय में अक्सर भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रश्न करते रहते हैं तथा अपने देश भारत और भारत से बाहर के देशों से भी हमारे पास ई-मेल और फेसबुक के द्वारा सन्देश भेजते रहते हैं। अधिकतर लोगों का कहना होता है – गुरुजी, मुझे भी अपनी कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत करवानी है। मैं ऐसे सन्देशकर्ताओं को उत्तर देना चाहूँगा कि सभी की कुण्डलिनी-शक्ति इस प्रकार से जाग्रत नहीं हो सकती है। कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत करने के लिए साधना द्वारा अभ्यासी को पर्याप्त आन्तरिक विकास करना पड़ता है, तब कुण्डलिनी जागरण की अवस्था आती है। सिर्फ शब्दों द्वारा कहने मात्र से कुण्डलिनी का जागरण नहीं हो सकता है।

आजकल कुण्डलिनी जागरण से सम्बन्धित बहुत से चलचित्र (विडियो) यू-ट्यूब पर मिल जाएँगे। उन सबमें बहुत ही कम ऐसे चलचित्र होंगे जो विश्वसनीय हैं। कुछ लोगों ने तो ऐसे-ऐसे चलचित्र बनाकर यू- ट्यूब पर डाल रखे हैं जो कुण्डलिनी के नाम पर सिर्फ मजाक जैसा ही लगता है। चलचित्र बनाने वालों से अगर पूछा जाए कि आपका कितने वर्षों का अभ्यास है अथवा उन्होंने कभी भी अपनी साधना के बारे में स्पष्ट लिखा है। यही कारण है जो वास्तव में अभ्यासी हैं, उनके विषय में सामान्य लोगों की समझ कितनी सटीक होती है यह कहना मुश्किल है। मैंने बहुत से साधक ऐसे देखे हैं जो यह समझते है कि उनकी कुण्डलिनी जाग्रत है, जबकि उनकी कुण्डलिनी जाग्रत नहीं थी। उनके शरीर में प्राणवायु क्रिया कर रही थी,

वह प्राणवायु को कुण्डलिनी जागरण समझे हुए थे। मैंने उन्हें समझाने का प्रयास किया कि आपकी अभी कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत नहीं हुई है, आप भ्रम में हैं; आप किसी अच्छे मार्गदर्शक के पास जाएँ और इस विषय में उनसे मार्गदर्शन ले लें तो अच्छा रहेगा। मगर उन्हें हमारी बात पसन्द नहीं आयी और वह नाराज हो गये। एक जगह पर किसी ने मुझसे ही पूछ दिया– "पहले आप मुझे बताएँ, क्या आपको कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत है? पहले आप अपनी कुण्डलिनी जाग्रत कीजिए, फिर दूसरों के विषय में कुण्डलिनी जागरण की बात कीजिए"। मुझे उसकी बात सुनकर थोड़ी-सी हँसी सी आयी। अब मैं ऐसे व्यक्ति को क्या जवाब देता, इसलिए मैंने चुप ही बना रहना उचित समझा।

कुछ ऐसे नये लोग बहुत तर्क-वितर्क करते हैं। वह भी अपने आपको साधक ही कहते हैं। मैंने देखा है कि कुछ लोग दो-चार महीने आँखें बन्द करके बैठ जाते हैं, उन्होंने गुरु भी नहीं बनाया है क्योंकि उनकी दृष्टि में गुरु का कोई महत्त्व नहीं है, अभी क-ख-ग भी नहीं सीखा है और अपने आप को योगी समझने लगे हैं। ऐसे लोग ही दूसरों की कमियाँ निकालने लगते हैं तथा बिना पूछे ही दूसरों का मार्गदर्शन करने लगते हैं कि ऐसा होता है, वैसा होता है, आप गलत कहते हो आदि। मैं इस प्रकार के लोगों से कहना चाहूँगा कि पहले किसी योग्य गुरु के मार्गदर्शन में कठोर अभ्यास करें। कई वर्षों के अभ्यास के बाद जब कुछ योग्य बन जाओ, तब किसी के बारे में कुछ बोलो। किसी को कुछ कह देना, श्रेष्ठता नहीं होती है। श्रेष्ठता तब होती है जब किसी अन्य साधक को भी श्रेष्ठता के मार्ग दर्शन पर आगे की ओर अग्रसर कर दो। कुछ लोग ऐसे भी समाज में मिल जाएँगे, जो किसी की भी श्रेष्ठता को देखते ही उसके अन्दर की कमियाँ निकालना शुरू कर देते है। दूसरों की कमियाँ निकालना ऐसे लोगों का स्वभाव होता है। ऐसे लोग मानसिक रूप से सदैव दुखी रहते हैं, क्योंकि दूसरों की श्रेष्ठता कभी सहन नहीं कर पाते हैं। इसलिए किसी भी अभ्यासी के साथ ऐसी घटना घट जाए, तब उसका बुरा न मानें। उसकी (निन्दक) बात पर ध्यान न दें क्योंकि निन्दक की प्रकृति होती है कि वह अपने को श्रेष्ठ समझता रहता है तथा दूसरे को हेय दृष्टि से देखता रहता है, क्योंकि उसके चित्त पर मलिनता का आवरण चढ़ा रहता है। इसलिए वह ऐसा करता है। ऐसा व्यक्ति शीघ्रता से सुधरता नहीं है।

मैंने ऐसे व्यक्तियों का इसलिए यहाँ पर उल्लेख किया है क्योंकि समाज में ऐसे व्यक्ति कभी-न-कभी मिलते ही रहते हैं। इसलिए ऐसे व्यक्तियों से सदैव उचित दूरी बनाये रखनी चाहिए और अपनी साधना में धैर्यपूर्वक लगे रहना चाहिये, ताकि आपके अभ्यास में किसी प्रकार का अवरोध न आये। कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जिनका दूर-दूर तक अभ्यास से कुछ लेना देना नहीं होता है, मात्र थोड़ा सा अभ्यास कर लेते हैं, मगर उनकी भी कुण्डलिनी जाग्रत है वह ऐसा कहते रहते हैं। कुछ लोगों को देखा है जिन्हें किसी-न-किसी प्रकार की बीमारी लगी होती है, जैसे – उच्च रक्तचाप (हाई ब्लडप्रेशर) और मस्तिष्क सम्बन्धी बीमारी आदि। मगर उनकी भी कुण्डलिनी जाग्रत है, ऐसा वे कहते हैं। इसी प्रकार मैं कुछ और रोगियों से भी मिल चुका हूँ। उन्हें किसी न किसी प्रकार की बीमारी अथवा परेशानी है, मगर वे यह समझ रहे हैं कि उन्हें कुण्डलिनी जाग्रत है, उसी के कारण ऐसा हो रहा है। ऐसे समय पर मैं चुप ही रहता हूँ। क्या उत्तर उन्हें दूँ क्योंकि वह सत्य को सहन नहीं कर पाते हैं अथवा वे स्वीकार नहीं कर पाते हैं। एक बात और मुझे बतानी है – कुछ साधक ऐसे भी मुझे मिले हैं, जो अपना नियमित अभ्यास भी करते हैं तथा उनकी प्राणवायु ऊर्ध्व होने लगी है, परन्तु वह ऐसा समझ रहे हैं कि उनकी कुण्डलिनी-शक्ति ऊर्ध्व हो रही है, अर्थात् प्राणों को ही कुण्डलिनी-शक्ति समझने की गलती कर लेते हैं। अगर उनसे सही बात बोलो, तब वह मानने को तैयार नहीं होते हैं। इसीलिए ऐसे साधकों को इसी प्रकार के गुरु भी मिल जाते हैं। मैं तो कहता हूँ – ऐसे गुरु भी बड़े काम के होते हैं, जो साधक के प्राणों को ऊर्ध्व होने पर कुण्डलिनी-शक्ति का ऊर्ध्व होना भी कह देते हैं कि आपकी कुण्डलिनी-शक्ति ऊर्ध्व हो गयी है। क्योंकि जो व्यक्ति सत्य को ग्रहण नहीं करना चाहता है, उसे उसके भ्रम को पुष्ट करने के लिए अनुकूल गुरु भी मिल जाते हैं।

यह सत्य है कि हमारे समाज में अच्छे गुरुओं की कमी नहीं है। मगर क्या किया जाए उन्हीं अच्छे गुरुओं के बीच में बहुतायत में नकली गुरु भी घुल-मिल जाते हैं क्योंकि आजकल गुरुओं का धन्धा अच्छा-खासा ज़ोरों पर चल रहा है। गुरु बनने पर ढेर सारी सुविधाएँ भी मिलने लगती हैं, क्योंकि वे स्वयं तो ऐसी सुविधाएँ जुटा नहीं सकते हैं, इसलिए ढेरों शिष्य बनाने के बाद जीवन आराम से बीतता है। साथ ही सम्मान और कीर्ति भी मिलती है। अज्ञानी व्यक्ति ऐसे

गुरुओं पर खूब विश्वास करते हैं और उनकी बातों पर पूर्ण विश्वास करके उन्हीं के बताए नियमों पर चलते हैं। अगर ऐसे साधकों से पूछा जाए कि इतने वर्षों में तुम्हें क्या मिला, तब उत्तर मिलेगा कि हमारे गुरुदेव साक्षात भगवान हैं। ऐसे व्यक्ति किसी की सुनने को तैयार नहीं होते हैं, बल्कि उत्तर में नाराज और हो जाएँगे। कुछ शिष्यों की ऐसी सोच होती है कि मुझे योग के अभ्यास की जरूरत क्या है, अन्त में हमारे गुरुदेव हमें सब कुछ दे ही देंगे, क्योंकि वह बहुत सामर्थ्यवान है। मगर ऐसा कभी नहीं होता है, जीवन इसी प्रकार बीत जाता है। बस यह सोचते रहते हैं कि मैं अमुक सन्त का शिष्य हूँ, हमारे गुरुदेव ईश्वर तुल्य है, उनकी कृपा कभी-न-कभी अवश्य हो जाएगी।

बहुत से अज्ञानी व्यक्ति कुण्डलिनी-शक्ति पर ही प्रश्नचिन्ह लगाने लगते हैं कि कुण्डलिनी के विषय में किस शास्त्र में लिखा हुआ है। मैं उन व्यक्तियों से पूछता हूँ – अगर मनुष्य के शरीर में कुण्डलिनी-शक्ति नहीं होती है तो आजकल हजारों-लाखों अभ्यासी इस मार्ग में क्यों लगे हुए हैं? ढेरों सन्त पुरुषों ने कुण्डलिनी के विषय में अपने-अपने अनुभव लिखे हुए हैं। कुछ सन्तों के लिखे हुए अनुभव स्वयं मैंने भी पढ़े हुए हैं तथा बहुत से मेरे गुरु भाई-बहनों की कुण्डलिनी-शक्ति ऊर्ध्व होती थी, यह बात बहुत पहले की है। यदि किसी सन्त पुरुष ने कुण्डलिनी मार्ग का अनुसरण नहीं किया है तो क्या कुण्डलिनी-शक्ति की उपस्थिति मनुष्य के शरीर में समाप्त हो गयी है? वर्तमान समय में यू-ट्यूब पर ढेरों चलचित्र कुण्डलिनी के विषय में मिल जाएँगे जिनमें लोग अपनी-अपनी अनुभूतियाँ बता रहे हैं। कभी-कभी कुछ व्यक्ति दूसरे धर्मों से भी इस विषय (कुण्डलिनी) को जोड़ देते हैं। मुझसे कई बार पूछा गया – बौद्ध धर्म में कुण्डलिनी शब्द नहीं आया है और गौतम बुद्ध जी ने कभी भी कुण्डलिनी शब्द का नाम नहीं लिया है। उत्तर – उन्होंने कुण्डलिनी-शक्ति सम्बन्धित मार्ग नहीं अपनाया होगा, इसलिए उन्होंने प्रवचन में अपने शिष्यों से कुण्डलिनी-शक्ति शब्द पर नहीं बोला होगा। सुना है बुद्ध जी ने तो ईश्वर से सम्बन्धित भी कभी कुछ नहीं बोला है, तो क्या ईश्वर विद्यमान नहीं है? बहुत से व्यक्ति कहते हैं कि अष्टांग योग में कुण्डलिनी-शक्ति का वर्णन नहीं आया है। उत्तर– अगर किसी मार्ग में कुण्डलिनी-शक्ति का वर्णन नहीं किया गया है तो क्या इस मार्ग को अपनाने वालों की

कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत नहीं होती है? उनकी अवश्य जाग्रत होती होगी, चाहे वह अभ्यासी कुण्डलिनी-शक्ति की ओर ध्यान दे अथवा न दे।

अभ्यास के समय शरीर के अन्दर जो विकासक्रम होना निश्चित है, जिसका जो मार्ग होता है वह उसी ओर ध्यान देता है, दूसरी ओर ध्यान नहीं देता है। अभ्यासी का जिस प्रकार का भाव होता है उसे उसी से सम्बन्धित ध्यानावस्था में अधिक अनुभव आएँगे और उसी प्रकार की अनुभूतियाँ भी होंगी। इसीलिए कुछ योगियों ने कुण्डलिनी के विषय में वर्णन किया है और कुछ योगियों ने कुण्डलिनी के विषय में वर्णन नहीं किया है। अपना-अपना मार्ग है ईश्वर की ओर जाने के लिए अथवा अपने स्वरूप में स्थित होने के लिए। जिसे जो भी मार्ग अच्छा लगा उसने वही मार्ग अपना लिया। इस प्रकार के प्रश्न वही व्यक्ति करते हैं जिनका स्वभाव दूसरे की त्रुटियाँ निकालने का है। ऐसे व्यक्ति कभी भी अच्छे साधक नहीं बन सकते हैं जो सदैव दूसरों की कमियाँ निकालते रहते हैं। सत्य तो यही है कि कमियाँ स्वयं उन्हीं के अन्दर होती हैं, क्योंकि उनका चित्त मलिनता से युक्त होता है।

गीताप्रेस (गोरखपुर उ०प्र०) की छपी हुई बहुत सी पुस्तकों में कुण्डलिनी का उल्लेख मिल जाएगा। उन पुस्तकों को पढ़कर यह भी ज्ञात हो जाएगा कि कुण्डलिनी के विषय में पहले से किन-किन पुस्तकों में लिखा गया है। कुछ सौ वर्ष पहले महाराष्ट्र के महान सन्त ज्ञानेश्वर जी ने ज्ञानेश्वरी में कुण्डलिनी के विषय में वर्णन किया है। वर्तमान में बहुत-सी पुस्तकों में कुण्डलिनी-शक्ति से सम्बन्धित लेख मिल जाएँगे। बहुत से सन्तों से मैं कई वर्ष पूर्व मिल भी चुका हूँ। उनकी कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत थी और पूर्ण यात्रा कर स्थिर हो चुकी थी। मैंने देखा है कि समाज में कुछ अधूरे ज्ञान वाले व्यक्ति मिल जाएँगे, जो इसी प्रकार के प्रश्न किया करते है ऐसा उनका स्वभाव बन चुका है। पूर्वकाल में योग सम्बन्धी बहुत सी गुप्त बातें लेख में नहीं लिखी जाती थी। ये गुप्त विद्याएँ गुरु-शिष्य परम्परा के अन्तर्गत सिखाई जाती हैं। गुरु जिस शिष्य को योग्य समझते थे, उसे ही ये गुप्त विद्याएँ बताते थे। ऐसी गुप्त विद्याओं का विवरण पुस्तकों में कभी नहीं मिलेगा। मैंने अपने लेखों में कुछ बातें स्पष्ट कर दी है, मगर बहुत सी ऐसी बातें है

जिसे मैंने कभी लेख में लिखा ही नहीं है और न ही कभी लिखूँगा। मैंने किसी को थोड़ा सा बता दिया है, उससे ज्यादा नहीं बताया जा सकता है, क्योंकि उसकी योग्यता उससे ज्यादा की नहीं है। योग में बहुत सी ऐसी विद्याएँ है जो सदैव गुप्त ही रहेगी। उन विद्याओं को उचित पात्र न होने के कारण और कलियुग के कारण नहीं बताया जा सकता है। भूलोक पर मात्र कुछ ही ऐसे योगी हैं जिनके पास ऐसी विद्याएँ हैं, वे भी चुपचाप रहते हैं। मुझे भी आज तक कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जो सिर्फ ईश्वर से प्रेम करता हो और वह ईश्वर अथवा अपने स्वरूप को ही प्राप्त करना चाहता हो। बहुत से साधक मिले, उनमें कहीं-न-कहीं स्वार्थ अवश्य छुपा हुआ था।

आजकल योग्य गुरुओं की बहुत कमी है। परन्तु एक कटु सत्य यह भी है कि योग्य शिष्यों की भी बहुत कमी है। अगर शिष्य योग्य होगा, तब यह प्रकृति की जिम्मेदारी होती है वह उस साधक को योग्य गुरु के पास पहुँचा देती है। मैंने कुछ अपने शिष्यों को थोड़ा सा योग्य बनाना चाहा, परन्तु ऐसा नहीं हो सका क्योंकि उन्हीं शिष्यों के कर्म मेरे ही सामने आ गये। इसलिए शिष्य आगे नहीं बढ़ सके, क्योंकि उनकी इच्छाएँ संसार के प्रति चलने लगी थी। मैं इसमें क्या कर सकता था, उन्हें अपनी इच्छाएँ भी भोगनी हैं, फिर मैं शान्त हो गया। क्योंकि चित्त पर स्थित संस्कार कब, क्यों और कैसे प्रकट हो जाएँ, इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता है।

अधूरे ज्ञान वाले मनुष्य जो कुण्डलिनी के विषय में पूछते रहते हैं कि इसका उल्लेख नहीं मिलता है अथवा अमुक सन्त ने इस विषय में कुछ नहीं बोला है, तो इसका सटीक उत्तर वही संत दे सकते थे कि उन्होंने इस विषय में क्यों नहीं बताया है। अब तो वे सन्त पुरुष इस संसार में नहीं हैं। मुझे याद आ रहा है– कुण्डलिनी-शक्ति के विषय में यजुर्वेद में लिखा हुआ मिल जाएगा, ऐसा मैंने कभी पढ़ा था। इसके अलावा सौन्दर्य लहरी, योग कुण्डल्युपनिषद, ललिता सहस्त्रनाम, योग शिखोपनिषद, षट्चक्र निरूपणम्, घेरण्ड संहिता, हठयोग प्रदीपिका और तन्त्र से सम्बन्धित बहुत सी पुस्तकों में और गीता प्रेस (गोरखपुर उ०प्र०) द्वारा छपी हुई कई पुस्तकों में भी वर्णन मिल जाएगा। सन्त ज्ञानेश्वर जी ने ज्ञानेश्वरी में बहुत अच्छा वर्णन किया है।

कुण्डलिनी-शक्ति के विषय में पूर्वकाल में योगियों व सन्त-पुरुषों को जिस प्रकार से अनुभूति हुई है, उन्होंने कुण्डलिनी-शक्ति के विषय में वैसा ही वर्णन किया है। वर्तमान समय में बहुत से साधकों की कुण्डलिनी-शक्ति ऊर्ध्व हो रही है, उन सभी साधकों को अपने ढंग से इसकी अनुभूति हो रही है। मैंने स्वयं बहुत से साधकों की कुण्डलिनी-शक्ति को ऊर्ध्व किया है। यह कार्य सन् 1992 से लेकर अब तक कर रहा हूँ। प्रत्येक अभ्यासी को, जिसकी कुण्डलिनी जाग्रत हो गयी है, उन्हें अपने अभ्यास और संस्कारों के अनुसार, भिन्नता को लेकर कुण्डलिनी-शक्ति की अनुभूति हो रही है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि सभी को एक जैसी ही अनुभूति होगी। कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं, जिनका कुण्डलिनी जागरण से कुछ लेना-देना नहीं है, फिर भी उनकी कुण्डलिनी जाग्रत हो रही थी। स्वयं उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि उनकी भी कुण्डलिनी जाग्रत है। ऐसा मैंने अपनी पहली पुस्तक '**सहज ध्यान योग**' में लिखा हुआ है। ऐसा मैंने सन् 1992 में देखा था। उसमें से एक व्यक्ति गायक है वह भारत का ही रहने वाला है तथा दूसरा यूरोप का है, वह वैज्ञानिक है आदि।

अव्यक्त रूप से कुण्डलिनी-शक्ति परा-प्रकृति में विद्यमान रहती है, इसे योग की भाषा में महाकुण्डलिनी भी कहते हैं। व्यक्त रूप में कुण्डलिनी-शक्ति जीवों (प्राणियों) के शरीर में विद्यमान रहती है। कुण्डलिनी-शक्ति का मूल निवास सहस्त्रार चक्र है। कुण्डलिनी-शक्ति को जीव की *'संगिनी'* भी कहते हैं। प्रथम बार जीव जब इस लोक में जन्म ग्रहण करने के लिए यात्रा करता है, तब अपने साथ कुण्डलिनी-शक्ति और प्राण शक्ति भी लेकर आता है। तब कुण्डलिनी-शक्ति आज्ञा चक्र, कण्ठचक्र, हृदय चक्र, नाभिचक्र, और स्वाधिष्ठान चक्र होते हुए मूलाधार चक्र में आकर त्रिकोण के मध्य में स्थित शिवलिंग पर साढ़े तीन चक्कर लपेटकर, पूँछ को अपनी मुँह में दबाकर सुषुप्तावस्था में चली जाती है अर्थात् सो जाती है। उस समय जीव चेतन तत्त्व होते हुए भी पूर्ण रूप से जीवत्व को प्राप्त हो जाता है। जब तक कुण्डलिनी-शक्ति मूलाधार चक्र में सुषुप्तावस्था में बनी रहेगी, तब तक जीव पूर्ण रूप से जीवत्व को प्राप्त रहेगा।

जब यही कुण्डलिनी मूलाधार चक्र में जाग्रत होकर ऊर्ध्वमुखी हो जाती है और स्वाधिष्ठान चक्र, नाभिचक्र, हृदय चक्र, कण्ठचक्र और आज्ञा चक्र होते हुए कई जन्मों तक लगातार अभ्यास करने के बाद अन्तिम जन्म में जब सहस्त्रार चक्र पर आ जाती है, तब जीवत्व को प्राप्त हुए जीव का जीवत्व पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है। फिर वह अपने चेतन स्वरूप में स्थित हो जाता है अर्थात् जीव का जीवत्व नष्ट करने के लिए कुण्डलिनी-शक्ति को ऊर्ध्वगामी बनाकर सहस्त्रार चक्र तक ले जाना होता है, अर्थात् कई जन्मों तक कठोर साधना करते रहने पर ही आखिरी जन्म में कुण्डलिनी-शक्ति सहस्त्रार चक्र में पहुँच पाती है। तब फिर परमशिव जो सहस्त्रार चक्र पर सदैव विराजमान रहते हैं उनसे जाकर मिल जाती है। फिर जीव का जीवत्व पूर्णरूप से छूट जाता है। तब जीव को जीवेश्वर कहा जाता है। जब तक कुण्डलिनी-शक्ति का परमशिव से मिलन नहीं होता है, तब तक अभ्यासी के चित्त पर संसार का बीज कुछ न कुछ मात्रा में बना रहता है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा के प्रकट होने के बाद अविद्या मूल से नष्ट होने लगती है और चित्त पर ज्ञान का प्रकाश फैलने लगता है, तब संसार के बीज नष्ट होने लगते हैं। इस समय अभ्यासी निरूद्धावस्था का आभास कर रहा होता है। संसार का बीज नष्ट होने पर जब चित्त ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है, तब जीव का जीवत्व पूर्णरूप से नष्ट हो जाता है और कुण्डलिनी-शक्ति परम शिव से मिल जाती है। इसे शिव और शक्ति का मिलन कहते हैं, तब जीव शिवत्व पद से युक्त हो जाता है।

किसी भी अभ्यासी की कुण्डलिनी-शक्ति को परमशिव से मिलने में कई जन्मों तक कठोर अभ्यास क्यों करना पड़ता है। एक ही जन्म में कुण्डलिनी-शक्ति का जागरण होकर परम शिव से क्यों नहीं मिल जाती है? उत्तर– इसके कुछ कारण हैं, जिन्हें मैं लिखने का प्रयास कर रहा हूँ। जीव जब इस संसार में पहली बार प्रकृति का भोग करने के लिए आता है, तब वह अज्ञानता के कारण कहता है – ये संसार मेरा है; यह अज्ञानता ही जीव को जीवत्व प्राप्त कराती है। अगर गौरपूर्वक सोचें कि यह संसार (अपरा-प्रकृति) क्या मेरा है, यह तो आप को भी मालूम होगा कि यह संसार आपका नहीं है और न ही आप इस संसार के स्वामी है। यह संसार स्थूल पंचभूतों द्वारा बना हुआ है उन्हीं पाँचों स्थूल पंचभूतों में तीनों गुण आपस में क्रिया कर रहे है

अर्थात् यह संसार प्रकृति का स्वरूप है, इस प्रकृति का स्वामी ईश्वर है। गीता में भगवान श्री कृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं – "हे अर्जुन! मेरी दो प्रकृतियाँ है, **1.** परा-प्रकृति और **2.** अपरा-प्रकृति। ये दोनों प्रकृतियाँ मेरे अन्दर विद्यमान है, मैं इनके अन्दर नहीं विद्यमान हूँ"। अर्थात् ईश्वर सर्वत्र विद्यमान रहता है, ईश्वर ही प्रकृति का स्वामी होता है। फिर भी जीव अज्ञानता से स्थूल वस्तुओं को अपना समझने की भूल कर लेता है, अर्थात् जो वस्तु उसकी नहीं है उसे वह अपनी समझने लगता है। इसके बाद वह पतन को प्राप्त होता हुआ सिर्फ स्थूल शरीर में सीमित रह जाता है और सांसारिक वस्तुओं को अपना समझने लगता है। फिर उसके अन्दर संसार के प्रति मोह-ममता, अपना-पराया, राग-द्वेष, लोभ आदि के कारण सुख-दुःख की अनुभूति होने लगती है। वह अपने जीवन में इन्द्रियों के अधीन हुआ अविद्या से युक्त कर्म करने लगता है। इन कर्मों के कर्माशय चित्त की भूमि पर स्थित होते रहते हैं। इसी प्रकार जीवन भर अविद्या से युक्त कर्म करता रहता है। इन सम्पूर्ण कर्मों के कर्माशय प्रतिक्षण बन-बन कर उसके चित्त पर विद्यमान होते रहते हैं। फिर जीवन समाप्त ही हो जाता है। अगला जन्म उसे कर्मानुसार ही मिलता है पिछले कर्मों के अधीन हुआ मनुष्य अपनी इच्छापूर्ति में सम्पूर्ण जीवन लगा रहता है, मगर इच्छाएँ कभी भी समाप्त नहीं होती हैं। अन्त में स्थूल शरीर जरूर समाप्त हो जाता है, अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। मनुष्य का यही क्रम चलता रहता है और हर जन्म में इन्द्रियों का दास होकर जीवन व्यतीत करता रहता है। इस प्रकार मनुष्य संसार को अपना समझता हुआ जीवन भर सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करने का प्रयास करता रहता है। मगर यह भूल जाता है कि वह वास्तव में पहले कौन था। अब भूल से अपने को मात्र स्थूल शरीर ही समझ रहा है। इसी प्रकार जीव अनन्त जन्मों तक अविद्या से युक्त हुआ संसार में जन्म लेता रहता है। चित्त पर अनन्त जन्मों के संस्कारों (कर्माशयों) का अम्बार लग जाता है। इस अवस्था में चित्त पर मलिनता (तमोगुण) का आवरण इतना ज्यादा बढ़ जाता है, कि ज्ञान का प्रकाश इस तमोगुणी आवरण के नीचे ढक जाता है। वर्तमान को ही सत्य मानता रहता है।

इस संसार में दुःख के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है, क्योंकि प्रकृति परिवर्तनशील है। हर क्षण सभी वस्तुओं में परिवर्तन हो रहा है अर्थात् कोई भी वस्तु एक स्वरूप वाली (स्थिर) नहीं

रह सकती है। इसलिए स्थूल पदार्थों का भोग सदैव एक समान नहीं किया जा सकता है। जो वस्तु आज मेरी है, वह कल दूसरे की हो जाएगी। फिर भी मनुष्य पागलों की भाँति उस वस्तु को सदैव के लिए अपना बनाकर रखना चाहता है। इसी प्रकार दुःख की अनुभूति सदैव करता रहता है। इस अवस्था में जीवात्मा अज्ञानतावश असत्य को सत्य व अविद्या को विद्या समझता रहता है।

जब वह शास्त्रों के अध्ययन से, गुरुओं और सन्तों के प्रवचन सुनने आदि से अध्यात्म का अनुसरण करने लगता है, तब स्वयं उसका शरीर, प्राण और मन उसके मार्ग में अवरोध बनकर रोकने लगते हैं। अगर ऐसी अवस्था में अभ्यासी कठोर प्राणायाम का अभ्यास करे, तब उसके स्थूल शरीर, प्राण और मन की मलिनता (तमोगुण) कम होने लगती है, अर्थात् थोड़ी सी स्वच्छता आने लगती है। इससे अध्यात्म मार्ग थोड़ा सा सरल होने लगता है। इसीलिए कहा जाता है कि आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़ने के लिए योग्य गुरु का होना अति आवश्यक है, योग्य गुरु ही आगे का मार्ग बताएगा कि अब क्या करना है तथा मार्ग में आये हुए अवरोधों को दूर करने की विधि भी बताएँगे। अगर फिर भी अवरोध दूर नहीं हुए, तब शक्तिपात करके इन अवरोधों को हटा देते हैं। ऐसे शिष्य भाग्यशाली हैं जिन्हें श्रेष्ठ गुरु की प्राप्ति हुई है, क्योंकि श्रेष्ठ गुरु अपने शिष्य को कुछ न कुछ तो आगे बढ़ा ही देता है।

साधक को अपनी कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत करके ऊर्ध्वमुखी बनाना होगा, तभी कुण्डलिनी-शक्ति का परमशिव से मिलन हो पाएगा, अर्थात् तभी जीव का जीवत्व नष्ट होगा। कुण्डलिनी जागरण के लिए साधक को अन्तर्मुखी बनना होगा तथा अपने प्राणों को भी शुद्ध करना होगा। सबसे पहले साधक को इन्द्रियों की बहिर्मुखता को शान्त कर स्थिर करना होगा। फिर इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाना होगा। इन्द्रियों का स्वामी मन होता है। अगर मन को स्थिर कर दिया जाए तब इन्द्रियाँ अपने आप स्थिर होकर अन्तर्मुखी होने लगेंगी। मन स्थिर करने के लिए मन को धीरे-धीरे शुद्ध बनाने का प्रयास करना चाहिये। मन प्राणायाम के अभ्यास से स्थिर तथा शुद्ध होने लगता है, क्योंकि आन्तरिक कुम्भक का अभ्यास ज्यादा करने से मन की गति

ठहरने लगती है। अगर ध्यान का अभ्यास किया जाए, तब मन स्थिर रहने का प्रयास करने लगता है तथा इन्द्रियाँ भी अपना सामान्य स्वभाव (बहिर्मुखता) छोड़कर अन्तर्मुखी होने लगती हैं। इसका लाभ लेने के लिए अभ्यास करना शुरू कर देना चाहिये।

सबसे पहले साधक को एक आसन बना लेना चाहिये। आसन कुश अथवा कम्बल का बनाये तो अच्छा होता है। आसन के ऊपर सफेद रंग का कपड़ा बिछा लेना चाहिये। अपना मन पसन्द इष्ट चुन ले अर्थात् किसी देवता को अपना इष्ट बना ले। जरूरत पड़ने पर इष्ट की मानस पूजा भी कर सकते है। ध्यान करने के लिए एक जगह निश्चित कर ले, जहाँ पर शोरगुल आदि न होता हो, तथा शुद्ध वायु भी आती हो, अर्थात् वह जगह घुटन वाली न हो। किसी को अपना मनपसन्द गुरु बना ले, जो इस मार्ग का जानकार व परिपक्व हो। गुरु एक ही होना चाहिये उसे बदलते नहीं रहना चाहिये। ध्यान करते समय स्वच्छ कपड़े पहने। कमरे के एक कोने में छोटा सा मन्दिर बनाकर अपने इष्ट का फोटो रख ले अथवा दीवार पर टाँग दें। एक बात का ध्यान रखे, ध्यान करते समय इष्ट का फोटो आपकी आँखों के सामने होना चाहिए। वहीं पर आसन बिछा ले। उसी आसन के ऊपर सहजासन लगाकर बैठ जाएँ। अब दोनों हाथों की उँगलियों को आपस में फँसाकर अपनी गोदी में रख ले। एक बात का ध्यान रखे – रीढ़ सीधी होनी चाहिये। अब अपनी दोनों आँखें बन्द करके अपने इष्ट के स्वरूप का स्मरण करे। मन को आज्ञा चक्र पर स्थिर करने का प्रयास करें तथा अपने इष्ट के विषय में सोचे। कुछ समय बाद मन इधर-उधर भागने लगेगा उसे भागने दो, कुछ मत सोचो, दुःखी भी मत हो कि मन क्यों भाग रहा है। फिर मन को आज्ञा चक्र पर स्थिर करके इष्ट के विषय में सोचने लगो, बार-बार यही क्रिया करते रहो। शुरूआत में आधा घण्टा बैठने का अभ्यास करना चाहिए।

शुरूआत में मन स्थिर नहीं होगा, कोई बात नहीं, मन को स्थिर न होने दो। मगर मन को बार-बार अपने इष्ट पर लगाने का प्रयास करो। सुबह-शाम दो बार अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम दिन में तीन बार कठोरता के साथ करें। भोजन सात्विक करना चाहिए, ताकि प्राणों में शुद्धता आए। समय मिलने पर मंत्र जाप तथा त्राटक का अभ्यास भी करना चाहिए। सुबह-शाम

30-40 मिनट तक ध्यान में अवश्य बैठना चाहिये, ऐसा करने पर कुछ दिनों बाद ध्यान लगने लगेगा। जब ध्यान लगने लगेगा फिर कुछ दिनों बाद रीढ़ के निचले नुकीले भाग पर प्राणवायु की अनुभूति होने लगेगी। तब ऐसा लगेगा, जैसे थोड़ा सा गरम-गरम बुलबुला सा यहाँ पर विद्यमान है, अथवा वहाँ पर गोल-गोल घूम रहा है। किसी साधक को इसकी अनुभूति होती है, किसी साधक को अनुभूति नहीं होती है। यह प्राणवायु होती है। फिर यह प्राणवायु मूलाधार चक्र पर आ जाती है। जब साधक ध्यान पर बैठता है, तब प्राणवायु की अनुभूति बार-बार अथवा कभी-कभी होती है। हर साधक को एक जैसी अनुभूति नहीं होती है। मूलाधार चक्र पर प्राणवायु की 20-25 दिन अथवा एक माह तक अनुभूति होती रहती है, फिर अभ्यासानुसार धीरे-धीरे प्राणवायु ऊर्ध्व होने लगती है। यह प्राणवायु मूलाधार चक्र को शुद्ध करके धीरे-धीरे उसका विकास किया करती है। जब उसका विकास हो जाता है तथा शुद्धता एक निश्चित स्तर तक हो जाती है फिर प्राणवायु धीरे-धीरे ऊपर की ओर उठने लगती है। कुछ दिनों में धीरे-धीरे प्राणवायु स्वाधिष्ठान चक्र पर पहुँचती है। मूलाधार चक्र के कमल की चारों पंखुड़ियाँ खुल जाती हैं।

जब प्राणवायु स्वाधिष्ठान पर आ जाती है, तब यहाँ पर कुछ दिनों तक ठहरी रहती है। वह प्राणवायु धीरे-धीरे अभ्यासानुसार चक्र को स्वच्छ किया करती है। पहले उस चक्र पर स्थित तमोगुण को हटाने का कार्य किया जाता है। जब तमोगुण (मलिनता) हटकर स्वच्छता आने लगती है, तब उस चक्र पर स्थित कमल का विकास होना शुरू होने लगता है। कुछ दिनों में वह कली पुष्ट व सीधी होकर खिलने लगती है। जब कमल की पंखुड़ियाँ खुलती हैं तब एक साथ नहीं खुलती हैं बल्कि एक-एक करके खुलती जाती हैं। जब कमल की पंखुड़ियाँ पूर्ण रूप से विकसित हो जाती हैं, तब उसे चक्र का खुलना कहते है। इस चक्र पर छः दल का कमल होता है। फिर कुछ दिनों बाद प्राणवायु धीरे-धीरे ऊपर की ओर गति करने लगती है।

कुछ दिनों बाद प्राणवायु नाभिचक्र पर आ जाती है। फिर प्राणवायु इस चक्र पर स्थित मलिनता को नष्ट करके चक्र को स्वच्छ करने लगती है, तब उस चक्र पर स्थित कमल का

विकास होने लगता है। जब यहाँ पर चक्र का विकास हो रहा होता है, तब किसी-किसी साधक को अनुभव आने लगते हैं क्योंकि उस क्षेत्र पर जठराग्नि भी स्थित रहती है। वह जठराग्नि और भी तेज होने लगती है, इससे अभ्यासी की पाचन क्रिया और भी तेज हो जाती है। कुछ दिनों तक अभ्यास के बाद उसका नाभिचक्र खुल जाता है। इस चक्र पर स्थित कमल में दस पंखुड़ियाँ होती है। फिर प्राणवायु यहाँ से ऊर्ध्व होने लगती है।

अभ्यासी को ऐसी अनुभूति होती है, जैसे वायु का गोलाकार बुलबुला सा ऊपर की ओर उठ रहा है। यह प्राणवायु हल्की सी गरम-गरम महसूस होने लगती है। जिस स्थान पर प्राणवायु ठहरी रहती है अर्थात् स्थिर रहती है, उस स्थान पर कभी-कभी पसीना आने लगता है। जब प्राणवायु हृदय चक्र पर आ जाती है, तब साधक बहुत ही खुश रहने लगता है क्योंकि यहाँ पर साधक को अच्छे-अच्छे अनुभव आने लगते हैं। ऐसे अनुभव उसने कभी भी नहीं देखे होते हैं। उसे लगता है कब समय मिले मैं ध्यान पर बैठ जाऊँ और अनुभवों का आनन्द लूँ। किसी साधक को अनुभव नहीं आते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसकी साधना आगे की ओर नहीं बढ़ रही है। कुछ समय बाद जब प्राणवायु आगे की ओर जाने लगती है, तब उसे अनुभवों का आनन्द मिलना बन्द हो जाता है। इस चक्र पर स्थित कमल पर बारह दल होते है।

प्राणवायु धीरे-धीरे ऊपर चढ़ती हुई कण्ठचक्र के पास आ जाती है। इस चक्र पर हृदय चक्र की भाँति आनन्द नहीं आता है, यहाँ पर अनुभव न के बराबर आते है। कुछ दिनों बाद कभी-कभी एक दो अनुभव आ जाते है। यह सबसे जटिल चक्र होता है, क्योंकि आगे के मार्ग को एक ग्रन्थि अवरूद्ध किये रहती है, इसीलिए प्राण आगे की ओर नहीं जा पाता है। यहाँ पर (कण्ठचक्र पर) बहुत से अभ्यासियों को कई वर्ष लग जाते हैं। कुछ अभ्यासी तो वर्तमान जन्म में यह चक्र खोल नहीं पाते है। अभ्यास करते समय कुछ साधकों का यहाँ पर धैर्य टूटने लगता है। साधक को सुरंग से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव आते रहते हैं। उसे दिखाई देता है – वह किसी सुरंग के अन्दर बहुत तीव्र गति से चला जा रहा है। सामने सुरंग बन्द है। कभी-कभी 'ॐ' भी दिखाई देता है। अगर साधक उग्रता से अभ्यास कर रहा है अर्थात् तेज गति से

कर रहा है तब उसकी गर्दन पीछे की ओर जाने लगती है तथा सिर का पिछला भाग पीठ से चिपकने लगता है। उस समय साधक कष्ट की अनुभूति करने लगता है। साधक इसी प्रकार कुछ महीने अथवा कुछ वर्षों तक अभ्यास करता रहता है तब उसकी कुण्डलिनी जागरण का समय आ जाता है।

साधक अपना अभ्यास कण्ठचक्र पर कठोरता के साथ कर रहा होता है, तब प्राण धीरे-धीरे और शुद्ध होता है। उस समय प्राण सुषुम्ना नाड़ी के निचले सिरे पर दबाव देने लगता है अर्थात् प्राणवायु पहले की अपेक्षा अति सूक्ष्म, शुद्ध और व्यापक होकर सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर प्रवेश करने का प्रयास करने लगती है अथवा वहाँ पर धक्के मारने लगती है। तब मूलाधार चक्र में शिवलिंग पर लिपटी हुई कुण्डलिनी-शक्ति पर भी प्राणों के धक्के लगने शुरू हो जाते हैं, तब कुछ दिनों बाद वह अपनी आँखें खोलने लगती है। कुछ दिनों तक इसी अवस्था में (आँखों को खोले हुए) कुण्डलिनी-शक्ति बनी रहती है। उस समय साधक की साधना में अपने आप भस्त्रिका चलने लगती है। इस भस्त्रिका को साधक रोक नहीं सकता है क्योंकि यह क्रिया सूक्ष्म शरीर में हो रही होती है। साधक की पर्याप्त साधना के बाद जब प्राणों में और शुद्धता आ जाती है तब कुण्डलिनी-शक्ति अपने मुँह से पूँछ उगलने लगती है। जब पूँछ पूरी तरह से उगल देती है तब पूँछ नीचे की ओर लटक कर शिवलिंग से चिपकी रहती है।

इस समय साधक का ध्यानावस्था में अपने आप उड्डियान बंध लगने लगता है। अगर साधना उग्रता कर रहा है तब उड्डियान बन्ध जोर से लग जाएगा। अगर उड्डियान बन्ध अपने आप जोर से लगता है तो और अच्छी बात है। इससे सुषुम्ना नाड़ी के निचले सिरे पर प्राणों का और ज्यादा दबाव बढ़ता है, तब कुण्डलिनी को ऊर्ध्व होने में सहायता मिलती है तथा जठराग्नि भी तेज होने लगती है। कभी-कभी इसी अवस्था में साधक का मूलबन्ध अपने आप लगने लगता है। मूलबन्ध जोर से लगने पर प्राणों का दबाव भी मूलाधार क्षेत्र पर अधिक पड़ने लगता है इससे कुण्डलिनी-शक्ति शीघ्र ऊर्ध्व होने में सहायता मिलती है। कुछ साधकों की कुण्डलिनी-शक्ति अपने आप ऊर्ध्व होने लगती है। मगर ज्यादातर गुरु अथवा मार्गदर्शक

साधक पर शक्तिपात करके कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत करके ऊर्ध्व कर देते हैं, फिर कुण्डलिनी-शक्ति धीरे-धीरे ऊर्ध्व होने लगती है। उस समय कुण्डलिनी-शक्ति ऊपर की ओर अपना मुँह उठाकर खड़ी होने का प्रयास करने लगती है। शुरूआत में वह अपना मुँह चौड़ा करके थोड़ा सा ऊपर की ओर उठाती है।

जब कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होकर थोड़ा सा ऊर्ध्व होती है, तब सबसे पहले मूलाधार चक्र पर स्थित जड़ता को खाना शुरू कर देती है। कुण्डलिनी-शक्ति का स्वभाव होता है सबसे पहले वह जड़ता को नष्ट करती है फिर उस स्थान पर चैतन्यता को बिखेर देती है। इसीलिए कहा जाता है– बहुत समय बाद कुण्डलिनी-शक्ति जागी है, क्योंकि उसका भोजन पृथ्वी तत्त्व और जल तत्त्व है इसलिए वह जाग्रत होते ही जड़तत्त्व को नष्ट करना शुरू कर देता है। दूसरा कारण यह है कुण्डलिनी-शक्ति का स्वरूप अग्नि तत्त्व से सम्बन्धित है। अग्नि में दाहिका शक्ति होती है इसलिए पृथ्वी तत्त्व व जल तत्त्व एक निश्चित मात्रा तक नष्ट कर देती है। इससे मूलाधार चक्र की जड़ता नष्ट हो जाती है फिर उस जगह चैतन्यता बिखेरने के कारण उस चक्र पर दिव्यता आने लगती है। ऐसा समझो अब मूलाधार चक्र शुद्ध हुआ है। पहले प्राणवायु ने चक्र को स्वच्छ करके विकसित कर दिया था। अब कुण्डलिनी-शक्ति अपनी चैतन्यता बिखेरती हुई आगे जाने का प्रयास करने लगती है।

जब कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होकर अपना कार्य करने लगती है अर्थात् जड़ता को नष्ट कर चैतन्यता बिखेरने लगती है, उस समय साधक का मूलाधार चक्र का क्षेत्र गरम होने लगता है। किसी-किसी साधक को शुद्धता के कारण ऐसा लगता है मानो उस जगह पर आग-सी फैल गयी है अथवा अंगारा सा रखा हुआ है। किसी-किसी को इसकी अनुभूति थोड़ी हल्की होती है अथवा नहीं भी होती है, ऐसा शुद्धता और अशुद्धता के कारण होता है। वर्तमान समय में बहुत से साधक प्राणवायु को ही कुण्डलिनी-शक्ति का जागरण समझने की भूल कर बैठते हैं। प्राणों की गति में और कुण्डलिनी-शक्ति की गति में अन्तर होता है। प्राण हल्का-सा गरम अनुभूत होता है, मगर कुण्डलिनी-शक्ति की अनुभूति अधिक गरम होती है। प्राणवायु का स्वरूप

बुलबुले के समान अनुभूति होती है। मगर कुण्डलिनी-शक्ति सर्प के समान ऊपर की ओर गति करती हुई गरम-गरम महसूस होती है अथवा पतली सी रेखा गरम-गरम ऊपर की ओर चढ़ती हुई चली जा रही है, ऐसी महसूस होती है।

जब कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होती है, तब साधक की भस्त्रिका चलने लगती है। मूलबन्ध तथा उड्डियान बंध भी अपने-आप लगने लगता है। साधकों को अनुभवों में कुण्डलिनी-शक्ति के भिन्न-भिन्न स्वरूपों में दर्शन होते हैं। जैसे लाल साड़ी व ब्लाउज पहने हुई, साड़ी में चमकते हुए सितारे लगे हुए, सुन्दर सा सोने का मुकुट लगाये सामने अथवा अन्तरिक्ष में खड़ी हुई बहुत सुन्दर स्त्री दिखाई देती है। कभी-कभी वह अंतरिक्ष में खड़ी हुई, उसके तीनों नेत्र खुले हुए है, साधक को देख रही है। वह छोटी सी लड़की के स्वरूप में भी दिखाई देती है। पीली अथवा सुनहरी नागिन के रूप में दिखाई देती है। सूर्य, चन्द्रमा, तारे और बादलों से रहित आकाश में चमकती हुई बिजली के स्वरूप में दिखाई देती है। आकाश में सामने ऊपर की ओर बहुत बड़ा सा विशाल नक्काशीदार दरवाजे के रूप में दिखाई देती है। पानी के ऊपर, जलाशय के ऊपर नागिन कुण्डली मारे हुई बैठी है और वह जोर-जोर से फुफकार रही है। इसी प्रकार ढेरों स्वरूपों में दिखाई देती है। जब साधक को कुण्डलिनी और प्राणों के विषय में समझ में न आये, तब अपने गुरु से इस विषय में पूछ लेना चाहिये। वह अपनी दिव्य-दृष्टि का प्रयोग करके साधक को बता देंगे कि साधक की कुण्डलिनी अभी जाग्रत हुई है अथवा नहीं हुई है, क्योंकि यह कार्य तो उन्हीं के द्वारा सम्पन्न होता है अर्थात् कुण्डलिनी-शक्ति तो गुरु ही जाग्रत करते है। यह बात अलग है यदि गुरु की ही कुण्डलिनी जाग्रत नहीं है तो क्या कहा जा सकता है, तब ऐसे सन्तों को गुरु नहीं बनाना चाहिये। जो सन्त इस मार्ग में परिपक्व हो, उसी को गुरु बनाना चाहिये।

जब कुण्डलिनी-शक्ति मूलाधार चक्र से ऊर्ध्व होकर स्वाधिष्ठान चक्र पर पहुँचती है, उस समय स्वाधिष्ठान चक्र पर स्थित जड़ता को नष्ट करके चैतन्यता को बिखेर देती है। इस कार्य को करते समय साधक के अन्दर कामेच्छा भी प्रकट हो सकती है। अब साधक सोचने लगता है –

मेरे अन्दर गन्दे विचार क्यों आ रहे हैं? पहले कभी ऐसे गन्दे विचार तो नहीं आये थे, अब क्यों आ रहे हैं? उत्तर – इस प्रकार के गन्दे विचार आने का कारण यह है कि स्वाधिष्ठान चक्र पर जननेन्द्रिय का प्रभाव पड़ता है। इसलिए उस क्षेत्र से सम्बन्धित संस्कारों को कुण्डलिनी नष्ट करती रहती है। ऐसे में कुछ संस्कार चित्त की ऊपरी सतह पर भी आ जाते हैं। उस समय साधक के अन्दर कामवासना से सम्बन्धित विकार आने लगते हैं। इसी अवस्था में बहुत से लोग अज्ञानतावश कुण्डलिनी-शक्ति से सम्बन्धित उल्टा-सीधा सोचने लगते हैं कि कुण्डलिनी-शक्ति के कारण ऐसे गन्दे विचार आ रहे हैं जबकि कुण्डलिनी-शक्ति उस अभ्यासी के चित्त पर स्थित कामवासना से सम्बन्धित संस्कारों को नष्ट कर रही होती है। जब वह निश्चित मात्रा तक ऐसे संस्कारों को नष्ट कर देती है, फिर स्वाधिष्ठान चक्र पर चैतन्यता बिखेर देती है। तब इस चक्र पर चैतन्यता के कारण दिव्यता आ जाती है, फिर कुण्डलिनी-शक्ति धीरे-धीरे ऊर्ध्व होने लगती है।

कुण्डलिनी-शक्ति ऊर्ध्व होती हुई नाभिचक्र पर आ जाती है। नाभिचक्र पर आते ही इस चक्र की जड़ता को नष्ट करके चैतन्यता बिखेरने लगती है। अगर कुण्डलिनी उग्र स्वरूप वाली है तब अभ्यासी के पेट में आग-सी फैलने लगती है और उस चक्र से सम्बन्धित वह क्षेत्र गरम होने लगता है। यहाँ पर जठराग्नि और अधिक प्रज्जवलित होने से पाचन क्रिया तीव्रता से होने लगती है। साधक जो भी खाना खाता है वह सब शीघ्र ही पचकर भस्म हो जाता है। फिर शौच के लिए देर में जाना पड़ता है। अगर इस अवस्था में साधक का उड्डियान बन्ध लगता है तब कुण्डलिनी-शक्ति और भी गर्म होने लगती है। कुछ दिनों बाद कुण्डलिनी-शक्ति नाभिचक्र पर अपना कार्य पूर्ण करके धीरे-धीरे ऊर्ध्व होकर हृदय चक्र पर आ जाती है। जब कुण्डलिनी-शक्ति इन चक्रों पर पहुँचती है, तब कुछ दिनों तक उस चक्र पर ठहरती है क्योंकि उस चक्र की जड़ता नष्ट करके चैतन्यता बिखेरना होता है, फिर उस चक्र पर दिव्यता आ जाती है। मगर एक चक्र से दूसरे चक्र की दूरी तय करने में ज्यादा समय नहीं लगाती है, क्योंकि दोनों चक्रों के मार्ग में (दूरी में) वह चैतन्यता बिखेरती जाती है।

कुण्डलिनी-शक्ति जब हृदय चक्र में आ जाती है, तब पहले चक्रों के समान अशुद्धता को एक निश्चित यात्रा तक नष्ट करके चैतन्यता बिखेर देती है। हृदय चक्र पर पहले से भी अच्छे-अच्छे अनुभव आने लगते हैं। ये अनुभव दिव्यता को लेकर आते हैं, इस कारण अभ्यासी खूब आनन्दित होता रहता है। जब हृदय चक्र पर कुण्डलिनी-शक्ति अपनी चैतन्यता को बिखेर देती है, फिर वह आगे का मार्ग तय करने लगती है अर्थात् कण्ठचक्र की ओर गति करने लगती है।

जब कुण्डलिनी-शक्ति कण्ठचक्र के पास आ जाती है, तब साधक का कर्म निश्चित करता है कि कुण्डलिनी-शक्ति कहाँ तक गति करेगी अर्थात् ऐसे अवसरों पर कुण्डलिनी-शक्ति कण्ठचक्र से थोड़ा पहले ही ठहर जाती है, क्योंकि कण्ठचक्र का मार्ग आगे की ओर बन्द होता है। बन्द होने का कारण वहाँ पर स्थित ग्रन्थि है। ग्रन्थि ही इस मार्ग को अवरूद्ध किये रहती है। यह चक्र तमोगुण से आच्छादित रहता है, इसलिए अभ्यासी को यहाँ पर अधिक शुद्ध होने की आवश्यकता होती है। उस समय यहीं पर प्राणवायु भी रुकी हुई होती है। ग्रन्थि के कारण साधक पहले से ही कष्ट भोग रहा होता है, क्योंकि ध्यानावस्था में उसकी गर्दन पीछे की ओर जाती है। सिर का पिछला भाग पीठ से चिपक जाता है। इधर कुण्डलिनी भी ध्यानावस्था में धीरे-धीरे गर्म हुआ करती है। यहाँ पर ऐसा नहीं होता है कि कुण्डलिनी-शक्ति कण्ठचक्र तक आ गयी है तो अब चक्र खुल ही जाएगा क्योंकि मैं कुछ साधकों को जानता हूँ उनकी कुण्डलिनी-शक्ति कई वर्षों से कण्ठचक्र पर ही स्थित है मगर वह अभी तक अपना कण्ठचक्र नहीं खोल पाये हैं। कुछ साधक तो इस मृत्युलोक से भी जा चुके हैं। अगर साधक अभ्यास कठोरता के साथ कर रहा है, तब कुछ वर्षों में कण्ठचक्र खुल जाएगा। पहले यहाँ पर स्थित ग्रन्थि खुलती है इसके बाद कण्ठचक्र खुल जाता है। जब ग्रन्थि खुलने वाली होती है, तब साधक को उस स्थान पर थोड़े से दर्द की अनुभूति होती है क्योंकि ग्रन्थि नाड़ियों का गुच्छा-सा होता है। पहले यह ग्रन्थि धीरे-धीरे पुष्ट होती है, फिर उसके खुलने का समय हो जाता है। तब तक साधक की सोच संसार के प्रति बदलने लगती है, क्योंकि आगे के क्षेत्र में बहुत ही सूक्ष्मता और व्यापकता होती है। इसलिए साधक को अपना मन और भी शुद्ध व व्यापक बनाना होगा। गुरु के प्रति निष्ठा बहुत

होनी चाहिये और कर्मठता भी होनी चाहिये। कम से कम चार घण्टे की साधना व तीन बार प्राणायाम अवश्य करना चाहिए।

साधकों! जिस प्रकार मैंने लिखा है – मूलाधार चक्र से कण्ठचक्र तक कुण्डलिनी-शक्ति ऊर्ध्व होते हुए आ गयी, मगर यह इतनी शीघ्र यात्रा नहीं कर पाती है क्योंकि कुण्डलिनी-शक्ति शुरूआत में जल्दी-जल्दी ऊर्ध्व होती है फिर उसी शिवलिंग में आकर लिपट जाती है। जब साधक का ध्यान में मन एकाग्र होता है तभी कुण्डलिनी-शक्ति उस अवस्था में ऊर्ध्व होने लगती है, एकाग्रता भंग होते ही कुण्डलिनी-शक्ति वापस अपने स्थान पर (शिवलिंग पर) आकर लिपट जाती है। अगर साधक ने एक घण्टे का ध्यान किया है, तब मन मात्र कुछ क्षण ही स्थिर रहता है, फिर स्थिरता भंग हो जाती है और मन चंचल हो जाता है। मन का स्थिर होना और चंचल होना बना रहता है। जितनी देर तक मन स्थिर रहता है उतनी देर तक ही कुण्डलिनी-शक्ति ऊर्ध्व होती है अथवा ऊर्ध्व बनी रहती है। इसलिए चक्रों की स्वच्छता में बहुत समय लग जाता है। फिर उन चक्रों के कमल की पंखुड़ियों की स्वच्छता की जाती है और उन पर दिव्यता बिखेर दी जाती है, इसलिए इस कार्य में समय ज्यादा लगता है। कमल की पंखुड़ियाँ दिव्यता से युक्त होना आवश्यक है क्योंकि इन कमल की पंखुड़ियों पर देवी-देवताओं अथवा सिद्धियों के स्थान होते हैं। जो साधक इन देवी-देवताओं और सिद्धियों के लिए अलग से विशेष प्रकार की साधना करता है, उसे उचित समय पर वह शक्ति प्राप्त हो जाती है। मुझे भी अपने साधना काल में कुछ सिद्धियाँ मिली थी और मैंने उनसे कार्य भी लिया था। फिर मैंने उन सिद्धियाँ को शान्त भी कर दिया था क्योंकि ऐसी सिद्धियाँ साधक के मार्ग में अवरोध स्वरूप हैं, इसलिए मैं इनसे विमुख हो गया था।

जब मेरी साधना कण्ठचक्र पर चल रही थी, तब मैं कठोर अभ्यास किया करता था। यह बात सन् 1989 की है। उस समय श्री माता जी ने मुझे अपने पास बुलाया हुआ था। मैं उनके पास जून माह में पहुँच गया था। उस समय श्री माता जी अपने घर में रहा करती थी, तब आश्रम नहीं बना था। श्री माताजी (गुरुदेव) के पास मैं बहुत कठोर अभ्यास किया करता था, तब वहाँ

पर मुझे दूर-दर्शन व दूर-श्रवण सिद्धि प्राप्त हुई थी। यह सिद्धि अपने आप कार्य किया करती थी। वैसे यह सिद्धि बहुत ही अच्छी थी, किसी भी स्थान का दृश्य बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देता था तथा उस दृश्य से सम्बन्धित आवाज भी सुनाई देती थी। इस सिद्धि से गुप्त दृश्य भी बिल्कुल साफ दिखाई देते थे। ऐसा लगता था सम्पूर्ण दृश्य मेरे सामने ही है। फिर दो साल बाद मुझे वाचा सिद्धि भी प्राप्त हुई थी, उस समय मैं मिरज आश्रम में रहता था। तब मुझे सामान्य अवस्था में भी सोच कर बोलना पड़ता था, उस समय मैं ज्यादातर मौन रहा करता था। इस वाचा सिद्धि से मार्गदर्शन भी किया जा सकता है। मैंने इन सिद्धियों से कार्य भी लिया है, फिर बड़ी मुश्किल से इन सिद्धियों से पीछा छुड़ा पाया था। ये सिद्धियाँ सदैव योगबल पर ही कार्य किया करती हैं। इनके चक्कर में कभी भी नहीं पड़ना चाहिए, ये योग मार्ग में अवरोध स्वरूप हैं।

जब साधक कठोर अभ्यास करता है तब प्राणवायु ऊपर की ओर ज्यादा दबाव देती है। मगर गले में स्थित ग्रन्थि मार्ग को अवरुद्ध किये रहती है, इसलिए प्राणों के दबाव के कारण गर्दन पीछे की ओर चली जाती है। कभी-कभी सिर का पिछला हिस्सा पीठ पर चिपक जाता है, उस समय कुण्डलिनी-शक्ति ऊपर की ओर दबाव देती रहती है, मगर वह ऊपर की ओर नहीं जा पाती है। इसलिए यहीं पर धीरे-धीरे गर्म होती रहती है, तब साधक को गले में बहुत ज्यादा कष्ट होता है। प्राणों के एकत्र होने के कारण गर्दन फूल सी जाती है। कभी-कभी साधक पीछे की ओर गिर जाता है। अभ्यास के द्वारा साधक के अन्दर शुद्धता जब और बढ़ती है, तब वह ग्रन्थि पुष्ट होकर खुलने लगती है। जब ग्रन्थि खुलने वाली होती है, तब उस ग्रन्थि में एवं उस स्थान पर दर्द-सा महसूस होता है, फिर कुछ दिनों बाद ग्रन्थि खुल जाती है। ग्रन्थि खुलने में कितना समय लग जाता है, इस प्रकार का कोई निश्चित समय नहीं है। कुछ वर्षों में तथा कभी-कभी जीवन समाप्त हो जाता है, मगर साधक की ग्रन्थि खुल नहीं पाती है। ग्रन्थि खुलने के बाद गर्दन का दर्द समाप्त हो जाता है, फिर पूरी तरह से आराम मिल जाता है। इस ग्रन्थि को खोलने में कुण्डलिनी-शक्ति बहुत सहायता करती है। वह अपने मुँह से ग्रन्थि में धक्का मारा करती है। उस समय कुछ साधकों को इसकी अनुभूति होती है।

कण्ठचक्र खुल जाने पर कण्ठ पर रुकी हुई प्राणवायु ऊपर की ओर चली जाती है, मगर अभी कुण्डलिनी ऊपर नहीं जाती है। अब प्राणवायु सीधे आज्ञा चक्र पर आ जाती है। कण्ठचक्र से लेकर ब्रह्मरन्ध्र द्वार तक तीन मार्ग हो जाते हैं। इन तीनों मार्गों पर कुण्डलिनी-शक्ति क्रमशः गमन करती रहती है, जब तक ये तीनों मार्ग स्वच्छ नहीं हो जाते हैं। प्राणवायु जब आज्ञाचक्र पर आती है, तब अभ्यासी को ऐसा लगता है कि मस्तक के अन्दर ढेर सारी प्राणवायु भर गयी है। कभी-कभी यह स्थान दुखने-सा लगता है। प्राणवायु अभी तीनों मार्गों पर नहीं जा पाती है, क्योंकि पश्चिम मार्ग अभी बन्द रहता है। कुण्डलिनी-शक्ति कण्ठ के अन्दर का क्षेत्र थोड़ा-सा चौड़ा कर देती है ताकि कण्ठ के ऊपर का मार्ग आसानी से तय कर सके। कुछ दिनों के और अभ्यास से कुण्डलिनी-शक्ति ऊपर की ओर चली जाती है। उस समय ऐसा लगता है, मानो कण्ठ का क्षेत्र अन्दर से खोखला (पोला) हो गया है।

कुण्डलिनी-शक्ति अब तीनों मार्गों में क्रमशः थोड़ी-थोड़ी गति करके स्वच्छ करने लगती है। ये तीनों मार्ग हैं– **1.** सीधा मार्ग, **2.** पूर्व का मार्ग **3.** पश्चिम का मार्ग।

सीधा मार्ग– कण्ठचक्र से ठीक ऊपर की ओर 90 अंश के कोण पर ब्रह्मरन्ध्र द्वार है, अर्थात् सिर के ऊपरी भाग पर ब्रह्मरन्ध्र द्वार है। कण्ठचक्र से सीधे ऊपर ब्रह्मरन्ध्र तक के मार्ग को सीधा मार्ग कहते हैं।

पूर्व का मार्ग– कण्ठचक्र से मुँह की ओर से (सामने ओर से) आज्ञाचक्र तक के मार्ग को 'पूर्व का मार्ग' कहा जाता है।

पश्चिम का मार्ग– कण्ठचक्र से सिर के पिछले भाग में लघु मस्तिष्क के अन्दर से होते हुए ब्रह्मरन्ध्र द्वार तक आता है।

सीधा मार्ग व पूर्व मार्ग पर कुण्डलिनी-शक्ति आसानी से गमन कर जाती है तथा बहुत ज्यादा समय भी नहीं लगाती है। प्राणवायु पहले से ही पूर्व मार्ग पर गमन करके आज्ञाचक्र पर आ जाती है। इसी प्रकार से प्राणवायु सीधे मार्ग से होकर ब्रह्मरन्ध्र द्वार तक आ जाती है, इसकी

अनुभूति साधक को अक्सर होती रहती है। पश्चिम का मार्ग अभी बन्द रहता है, इस मार्ग को कुण्डलिनी-शक्ति धीरे-धीरे खोला करती है। लघु मस्तिष्क से जब यह धीरे-धीरे मार्ग बना रही होती है, तब साधक को इसकी अनुभूति होती है कि सिर के पिछले भाग में कुछ हो रहा है। कभी-कभी हल्का-सा दर्द महसूस होता है, क्योंकि कुण्डलिनी-शक्ति उस स्थान पर कुछ समय तक ठहरी रहती है और हल्की गरम-सी हुआ करती है फिर जोर से आगे की ओर धक्का मारती है। जब आगे की ओर धक्का लगता है तब ऐसा महसूस होता है जैसे गरम-गरम सूजा (सुआ)-सा कुछ चुभ गया है। इसी प्रकार आगे का मार्ग बनाती रहती है।

जिसकी कुण्डलिनी-शक्ति उग्र होती है अर्थात् उग्र स्वभाव वाली होती है, जब उसके द्वारा लघु मस्तिष्क के अन्दर से मार्ग बनाया जाता है, तब उसे थोड़ी-सी पीड़ा होती है। मध्यम स्वभाव वाली कुण्डलिनी वाले साधकों को सिर्फ थोड़ा-थोड़ा महसूस होता है कि कुछ गरम-गरम सूजा-सा चुभ रहा है। मगर शान्त स्वभाव वाली कुण्डलिनी वाले साधकों को किसी प्रकार की परेशानी नहीं होती है। वह ध्यानावस्था में शान्त बैठे रहते है। कुण्डलिनी-शक्ति एक ही होती है, मगर साधक की शुद्धता और अशुद्धता के आधार पर कुण्डलिनी-शक्ति का वेग होता है। उग्र स्वभाव वाली कुण्डलिनी-शक्ति वाले साधकों की साधना शीघ्रता से आगे की ओर बढ़ती है, मगर शान्त स्वभाव वाली कुण्डलिनी-शक्ति वाले साधक को आगे बढ़ने में कई वर्ष लग जाते हैं। उग्र स्वभाव वाली कुण्डलिनी-शक्ति वाला साधक शक्तिशाली होता है तथा वह गुरु पद पर बैठने के योग्य होता है। इसी प्रकार मध्यम स्वभाव वाली कुण्डलिनी-शक्ति वाला साधक गुरु पद पर बैठ सकता है, मगर उसे ज्यादा शिष्य नहीं बनाने चाहिए, क्योंकि उसके द्वारा शक्तिपात का प्रभाव कम होगा। मगर शान्त स्वभाव वाली कुण्डलिनी-शक्ति वाले साधक को गुरु पद पर नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि उसके द्वारा शक्तिपात ज्यादा नहीं किया जा सकता है। इसीलिए सभी अभ्यासी भविष्य में गुरु पद पर नहीं बैठ सकते है। जिन साधकों ने पूर्व जन्मों में साधना की है, उसकी कुण्डलिनी उग्र होती है, उन्हें सिद्धियाँ भी शीघ्र प्राप्त होने लगती है।

कुण्डलिनी-शक्ति तीनों मार्गों में क्रमशः गमन करती रहती है। उसे आज्ञाचक्र पर पहुँचने के लिए अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता है। इसी प्रकार सीधे मार्ग पर भी सरलता से गमन करती रहती है। पश्चिम मार्ग को प्रशस्त करने में उसे कई महीने लग जाते है। जब कुण्डलिनी-शक्ति आज्ञाचक्र पर आती है, तब साधक की दिव्य-दृष्टि तीव्र होने लगती है तथा आज्ञा चक्र खुलने की प्रक्रिया शीघ्र होने लगती है। इस चक्र के कमल पर दो पंखुड़ियाँ होती है तथा यहीं पर एक ग्रन्थि विद्यमान है। इस ग्रन्थि के पुष्ट होने पर साधक के अन्दर कुछ विशेषताएँ प्रकट होने लगती है। जब आज्ञा चक्र खुल जाता है, तब प्राणवायु ऊपर की ओर थोड़ा-सा उठती हुई ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर आ जाती है। इस प्रकार पहले प्राणवायु तीनों मार्गों से होती हुई ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर आ जाती है। फिर कुण्डलिनी-शक्ति भी तीनों मार्गों को तय करके शुद्ध बना देती है और फिर चैतन्यता बिखेर देती है। फिर सीधा मार्ग अपनाकर ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर आ जाती है। उस समय ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर प्राणवायु एवं कुण्डलिनी-शक्ति भी आकर द्वार पर दबाव देने लगती है।

साधकों! आज्ञा चक्र पर स्थित दिव्य-दृष्टि पूर्ण रूप से खुल जाती है, मगर किसी-किसी साधक की ही दिव्य-दृष्टि देखने का कार्य सही ढंग से कर पाती है। बहुत से साधकों को उनकी दिव्य-दृष्टि खुली हुई दिखाई देती है, मगर वह साधक के लिए देखने का कार्य नहीं कर पाती है। इसका कारण है– उसने पूर्व जन्मों में योगाभ्यास नहीं किया है। उसका चित्त भी मलिन होता है। ऐसे साधकों की कुण्डलिनी शान्त स्वभाव की होती है, ऐसा ज्यादातर देखा गया है। इसलिए बहुत से साधकों को शिकायत रहती है कि मेरी दिव्य-दृष्टि कार्य क्यों नहीं कर रही है। उसका यही कारण है– पूर्व जन्मों से उसके आध्यात्मिक संस्कार बहुत ही कम हैं, क्योंकि इस प्रकार के संस्कार भी सूक्ष्म पदार्थ देखने में सहयोग करते हैं। उग्र कुण्डलिनी वाले साधकों के अन्दर यह क्षमता होती है कि वह अपनी दिव्य-दृष्टि से देख सके। मार्गदर्शक के लिए दिव्य-दृष्टि श्रेष्ठता से युक्त होनी चाहिए क्योंकि उसे साधकों का मार्गदर्शन करना है।

मैंने ऊपर लिखा है कि कण्ठचक्र से ब्रह्मरन्ध्र द्वार तक तीन मार्ग होते हैं। इन तीनों मार्गों पर कुण्डलिनी-शक्ति क्रमशः कुछ समय तक गमन करती है। एक और मार्ग होता है '**चौथा**

मार्ग'। इस चौथे मार्ग को मार्गदर्शक बहुत कम जानते हैं और इसका उल्लेख भी नहीं मिलता है। इस मार्ग पर कुण्डलिनी-शक्ति सामान्य रूप से गमन नहीं करती है। इस विषय में पारंगत मार्गदर्शक ही अपने शिष्य की कुण्डलिनी चौथे मार्ग पर मात्र दो-चार बार ले जाते हैं। किस शिष्य की कुण्डलिनी-शक्ति को चौथे मार्ग से ले जाना है इसका निर्णय मार्गदर्शक करता है। यदि इस मार्ग पर दो-तीन बार कुण्डलिनी-शक्ति को गमन करवाया जाए तो साधक के संस्कारों पर असर पड़ता है अर्थात् कुछ मात्रा में चित्त पर स्थित संस्कार नष्ट कर देती है, इससे साधक को बहुत बड़ा लाभ मिलता है। मगर इस चौथे मार्ग पर कुण्डलिनी-शक्ति को गमन कराना बहुत ही सतर्कता वाला कार्य है। यह चौथा मार्ग नाभिचक्र से सीधे हृदय की ओर जाता है। नाभिचक्र के क्षेत्र से एक नाड़ी हृदय (अनाहत चक्र) पर जाती है। यह कुण्डलिनी-शक्ति इसी नाड़ी के सहारे गमन करके हृदय (अनाहत चक्र) पर पहुँचती है, फिर कुछ ही क्षणों में हल्के-हल्के (छोटे-छोटे) संस्कार नष्ट कर देती है। फिर इस मार्ग का कुण्डलिनी-शक्ति कभी भी प्रयोग नहीं करती है क्योंकि फिर कण्ठचक्र की ओर चली जाती है। मैं अपने साधकों की उन्नति के लिए एक-दो बार इस मार्ग पर अवश्य कुण्डलिनी-शक्ति को ले जाता हूँ।

कुण्डलिनी-शक्ति आदिशक्ति का अंश है और शक्तिस्वरूपा कुण्डलिनी-शक्ति इस ब्रह्माण्ड को धारण करने वाली है। सभी प्राणियों के शरीर में विद्यमान रहती है। यह स्वयं सभी का मार्गदर्शन करने वाली है तथा हम सभी की माता है। इसे कोई भी अपनी इच्छानुसार मार्ग पर नहीं चला सकता है। वह अपने मार्ग पर स्वयं चलती है तथा इसका मार्ग निश्चित है। मैंने यहाँ पर चौथे मार्ग के विषय में जो लिखा है वह सिर्फ विशेष मार्गदर्शक ही कर सकते है। सभी नहीं कर सकते हैं क्योंकि उन्हें इस विषय का ज्ञान नहीं होता है। एक विशेष प्रकार का तरीका है जिसका प्रयोग करने पर कुण्डलिनी-शक्ति दो-तीन बार चली जाती है। कुण्डलिनी-शक्ति स्वयं योगियों को मार्ग बताती है।

ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर साधक को बहुत समय तक अभ्यास करना पड़ता है। इस ब्रह्मरन्ध्र द्वार की बनावट विशेष प्रकार की होती है, इसलिए प्राणवायु इसे खोल नहीं पाती है। यहाँ पर

साधक की सविकल्प समाधि लगती है। समाधि अवस्था में विभिन्न प्रकार के अनुभव भी आते हैं और नाद भी सुनाई देते हैं। वैसे यहाँ पर कई प्रकार के नाद सुनाई देते हैं, मगर मुख्य रूप से दस नाद माने गये हैं। आखिरी नाद अथवा दसवाँ नाद '**मेघनाद**' होता है। अभ्यासी को समाधि अवस्था में मेघों की गर्जना सुनाई देती है। जैसे बरसात के समय बादल गरजते हैं, उसी प्रकार की ध्वनि सुनाई देती है। मगर वास्तविकता यह है कि आकाश तत्त्व के अन्दर वायु तत्त्व का घर्षण हुआ करता है क्योंकि अभ्यास के द्वारा तन्मात्राएँ क्रिया कर रही होती हैं, इसलिए विभिन्न प्रकार के नाद अथवा आवाजें साधक को सुनाई देती है। ब्रह्मरन्ध्र द्वार के अन्दर का क्षेत्र अहंकार से सम्बन्धित होता है।

साधक कठोरता के साथ अभ्यास करता रहता है, तब ब्रह्मरन्ध्र द्वार खुलने से पहले '**मेघनाद**' सुनाई देता है और उसे अनुभव में उगते हुए सूर्य के समान लाल गोला आकाश में दिखाई देता है। साधक सोचता है – यह लाल रंग का गोला क्यों दिखाई देता है, जैसा उगता सूर्य होता है। यह लाल रंग का गोला आकाश में दिखाई देता है। जब कुण्डलिनी-शक्ति प्राणों के सहयोग से अथवा प्राणों के दबाव के कारण ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर अपने मुँह से जोरदार टक्कर मारती है, तब वह लाल रंग का गोला हिलने लगता है। साधक हिलते हुए या कम्पन करते हुए इस गोले को देखता है। समाधि अवस्था में कुण्डलिनी के मुँह की चुभन ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर महसूस होती है, जैसे गरम-गरम सूजा (सुआ) सिर के ऊपरी भाग में घुस गया हो, तभी वह सूर्य के समान लाल रंग का गोला कम्पन करने लगता है। तब साधक को समझ लेना चाहिए कि कुछ समय बाद उसका ब्रह्मरन्ध्र द्वार खुलने वाला है। ऐसी अवस्था में साधक को अधिक शुद्धता बनाये रखने का प्रयास करना चाहिए।

जब कुण्डलिनी-शक्ति ब्रह्मरन्ध्र द्वार को खोल देती है तब साधक को ऐसा लगता है – उसके सिर के ऊपरी भाग में जोर से गरम-गरम सूजा-सा घुसा दिया गया है, इसके बाद उसे अपना याद नहीं रहता है। जब कुछ घण्टे बीत जाते है तब उसे होश आता है, वह बेहोश जैसी अवस्था से जाग्रत अवस्था में धीरे-धीरे ही आ रहा है। जब साधक का ब्रह्मरन्ध्र द्वार खुल जाता

है, तब द्वार पर रुकी हुई सम्पूर्ण प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर चली जाती है, उसी समय वह बेहोश हो जाता है। मगर किसी-किसी साधक का ब्रह्मरन्ध्र द्वार खुलते समय यह अवस्था नहीं आती है। उसे सिर्फ ऐसा लगता है कि ब्रह्मरन्ध्र के अन्दर बड़ी तेजी से प्राणवायु भरती जा रही है, उस समय सिर के ऊपरी भाग में गुदगुदी-सी लगने की अनुभूति होती है। किसी-किसी साधक को ब्रह्मरन्ध्र खुलते समय किसी प्रकार की अनुभूति नहीं होती है। मगर उसका ब्रह्मरन्ध्र द्वार खुल जाता है। हाँ, कुछ-न-कुछ प्राणों की अनुभूति विलक्षणता को लेकर अवश्य होती है। तीनों प्रकार की अनुभूतियाँ साधक के अभ्यास तथा कुण्डलिनी-शक्ति के स्वभाव के कारण होती हैं। उग्र कुण्डलिनी वाले साधक बेहोश भी हो जाते हैं।

साधक को ध्यानावस्था में सूर्य के समान लाल गोला दिखाई देता है। वह गोला ब्रह्मरन्ध्र खुलते ही फट जाता है। साधक अनुभव में देखता है – मानो हजारों सूर्य एक साथ फट गये हो, बहुत तेज प्रकाश चारों ओर फैल जाता है। स्वयं साधक उस अत्यन्त तेज प्रकाश में अपने आपको खड़ा हुआ पाता है। ऐसा लगता है जैसे वह प्रकाश में खड़ा हुआ प्रकाश का ही स्नान कर रहा है, ऐसा तेज प्रकाश वह पहली बार ही देखता है। बहुत से साधक यहीं पर भ्रमित हो जाते है। भ्रमवश वह समझ लेते हैं कि यही निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप है। मैं निर्गुण ब्रह्म के अन्दर खड़ा हूँ और उसका साक्षात्कार कर रहा हूँ। वह अपने आप को पूर्ण समझ लेता है कि मैं पूर्ण हो गया हूँ। बहुत से अभ्यासी यहीं पर अभ्यास करना बन्द कर देते हैं। कुछ अभ्यासी तो यह समझ लेते हैं कि हमारा सहस्त्रार चक्र खुल गया है, मुझे ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया है आदि। ये सब बाते सत्य नहीं हैं, यह अत्यन्त तेजस्वी प्रकाश अहंकार की अत्यन्त सात्विक सशक्त वृत्ति होती है। वह वृत्ति ही इस स्वरूप को धारण करती है। उस समय अन्य वृत्तियाँ भी उस सशक्त वृत्ति का सहयोग करती हैं। साधक भ्रम में न पड़ जाए इसलिए मैंने ये शब्द लिखे हैं, क्योंकि मैं ऐसे कुछ अभ्यासियों को जानता हूँ जो अपने आपको ब्रह्मस्वरूप समझे बैठे हैं। ये उनकी जिन्दगी की बहुत बड़ी भूल है। अभी तो उन्हें बहुत लम्बा आध्यात्मिक मार्ग तय करना है।

कुण्डलिनी-शक्ति कुछ समय तक यहीं पर ठहरी रहती है और इसी क्षेत्र को शुद्ध करके चैतन्यता बिखेरती रहती है। समाधि अवस्था में कुण्डलिनी-शक्ति ब्रह्मरन्ध्र द्वार के अन्दर थोड़ा-सा मुँह किये रहती है फिर नीचे की ओर आ जाती है। अभ्यासानुसार कुण्डलिनी-शक्ति उस क्षेत्र को शुद्ध करके वापस आज्ञा चक्र की ओर चल देती है। उस समय कुण्डलिनी-शक्ति की पूँछ मूलाधार चक्र पर होती है और सीधी होकर ब्रह्मरन्ध्र द्वार तक खड़ी होती है। फिर अपना मुँह आज्ञाचक्र की ओर करके गमन करने का प्रयास करने लगती है। ध्यान रखने वाली बात यह है – पहले की भाँति कुण्डलिनी-शक्ति आज्ञा चक्र पर नहीं आती है। बल्कि कण्ठचक्र से सीधे ऊपर की ओर स्थित सीधे मार्ग का प्रयोग करती है। फिर ब्रह्मरन्ध्र द्वार से आज्ञा चक्र की ओर चल देती है। जब तक साधक अपना अभ्यास लगातार करता रहता है, तब उचित समय पर आज्ञाचक्र पर आ जाती है। आज्ञाचक्र तो पहले से ही खुला होता है, मगर फिर भी इस स्थान पर कुछ समय तक रुकती है; इसे कुण्डलिनी-शक्ति का उलटना कहते हैं। जब कुण्डलिनी उलटकर आज्ञा चक्र पर आ जाती है, उस समय अभ्यासी को दिव्यदृष्टि और भी तेज हो जाती है तथा पहले की अपेक्षा साधक के अन्दर संकल्प शक्ति बहुत ज्यादा बढ़ जाती है। दिव्य-दृष्टि सबसे ज्यादा पैनी इसी समय पर होती है। कुण्डलिनी-शक्ति कुछ समय तक यहाँ पर ठहरने के बाद नया मार्ग बनाती हुई नीचे की ओर आने लगती है। तालू के पास एक चक्र होता है वहाँ से होती हुई हृदय (अनाहत चक्र) पर आ जाती है। ब्रह्मरन्ध्र द्वार से आज्ञाचक्र होते हुए हृदय तक आने में बहुत समय लग जाता है। उग्र स्वभाव वाली कुण्डलिनी शीघ्र आ जाती है; हो सकता है एक-दो वर्ष लग जाएँ, यह अभ्यास पर निर्भर है। मध्यम स्वभाव वाली कुण्डलिनी-शक्ति को तीन-चार वर्ष लग जाते हैं। शान्त स्वभाव वाली कुण्डलिनी-शक्ति के समय का आकलन नहीं किया जा सकता है। कुछ साधक ब्रह्मरन्ध्र द्वार खुलने के बाद कुण्डलिनी-शक्ति को स्थिर नहीं कर पाते हैं, अभ्यास करते-करते उनका जीवन समाप्त हो जाता है।

साधक जब समाधि अवस्था में बैठा होता है, तब कुण्डलिनी-शक्ति मूलाधार चक्र से ऊर्ध्व होकर स्वाधिष्ठान चक्र, नाभिचक्र, हृदय चक्र, कण्ठचक्र, फिर सीधा मार्ग अपनाकर ब्रह्मरन्ध्र द्वार पर, फिर ब्रह्मरन्ध्र द्वार से आज्ञाचक्र पर आ जाती है। आज्ञाचक्र से नीचे की ओर

गति करती हुई हृदय में आ जाती है। समाधि भंग होने पर वापस मूलाधार चक्र पर आ जाती है और शिवलिंग पर लिपट जाती है। इस समय कुण्डलिनी की लम्बाई साधक के स्थूल शरीर से मात्र थोड़ा-सी ही कम रह जाती है अर्थात् कुण्डलिनी-शक्ति की लम्बाई बहुत ज्यादा हो जाती है। अब साधक की समाधि के समय कुण्डलिनी-शक्ति को लम्बी यात्रा करनी पड़ती है फिर मूलाधार में वापस आ जाती है। यही प्रक्रिया अभ्यासानुसार बहुत समय तक चलती रहती है, फिर कुण्डलिनी-शक्ति स्थिर हो जाती है। उसका गति करना बन्द हो जाता है क्योंकि उसने अग्नि तत्त्व से सम्बन्धित विकास पूर्ण कर लिया होता है। इस समय कुण्डलिनी-शक्ति का स्वरूप तपे हुए सोने के समान हो जाता है। कुछ समय बाद वह अपना अग्नि तत्त्व वाला स्वरूप का त्याग कर देती है, फिर वायु तत्त्व के रूप में परिवर्तित हो जाती है। अब वायु तत्त्व से सम्बन्धित विकास शुरू कर देती है।

वायु तत्त्व वाला कुण्डलिनी-शक्ति का स्वरूप साधक को दिखाई नहीं देता है, उस समय वह सम्पूर्ण शरीर में वायु के रूप में व्याप्त हो जाती है। बहुत से अभ्यासी अपने-आपको इसी अवस्था में पूर्ण समझ लेते हैं और अभ्यास करना बन्द कर देते हैं। उनका कहना होता है – अब मैं पूर्ण हो गया हूँ। मगर ऐसा नहीं होता है। इसलिए साधक को कठोर अभ्यास करते रहना चाहिये, ताकि चित्त पर स्थित कर्माशयों का धीरे-धीरे नाश हो सके। इस अवस्था को प्राप्त करने वाला साधक गुरु पद पर बैठ सकता है, अब वह सब तरह से योग्य है। इस अवस्था में शक्तिपात करने से कुण्डलिनी-शक्ति की गति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है क्योंकि कुण्डलिनी-शक्ति ने गति करना छोड़ दिया है। वह साधक के सम्पूर्ण शरीर में वायु रूप से व्याप्त हो गयी है। सत्य तो यह है– अब वह समय आ गया है कि साधक अपने कर्मों का नाश अपने अभ्यासानुसार कर सकता है, इसलिए अब और कठोरता के साथ अभ्यास करना चाहिये। इससे साधक के अगले जन्मों पर प्रभाव पड़ेगा। कर्माशय जितने ज्यादा नष्ट हो जाएँगे, उतने ही कम उसे जन्म ग्रहण करने पड़ेंगे। इसलिए लगातार अभ्यास करते रहना चाहिये।

साधक जब हर जन्म में कठोर अभ्यास करके अपनी कुण्डलिनी-शक्ति को स्थिर करता रहेगा, तब अन्तिम जन्म में उसका सहस्त्रार खुलेगा। ऐसा कोई पैमाना नहीं है कि साधक को कितने जन्मों तक कुण्डलिनी-शक्ति को स्थिर करना पड़ेगा, फिर उसका अन्तिम जन्म होगा। ऐसा उसका अभ्यास व चित्त पर स्थित कर्माशय निश्चित करेंगे। अन्तिम जन्म में भी साधक को कठोर साधना करनी होगी और कुण्डलिनी की पूर्ण यात्रा करके स्थिर करनी होगी। इसके बाद साधक के चित्त पर क्लेशात्मक कर्माशय शेष रहते हैं। ये क्लेशात्मक कर्म भोगते समय साधक को घोर कष्ट सहने पड़ते हैं। ये कष्ट साधक को अपने घर के सदस्य, रिश्तेदार व समाज वाले देते हैं। तब उसे इस संसार का वास्तविक ज्ञान होता है कि जो हमारे थे अथवा जिन्हें मैं अपना समझता था वह हमारे नहीं हैं। एक समय ऐसा भी आता है कि अपने सभी विरोधी हो जाते हैं। साधक को इस समाज से जितना अधिक कष्ट मिलेगा, उसका चित्त उतना ही धीरे-धीरे स्वच्छ होता जाएगा। इसी प्रकार कई वर्षों तक क्लेश भोगते हुए और कठोर अभ्यास करते हुए सबीज समाधि की पारंगता को प्राप्त होने लगते हैं, तब सहस्त्रार चक्र खुलने का समय आ जाता है। इसी समय साधक के चित्त पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य हो जाता है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा चित्त पर स्थित अविद्या का नाश होने लगता है।

तब साधक को सहस्त्रार चक्र के कमल की कली के रूप में क्रम विकास होता हुआ दिखाई देता है। कुछ समय बाद जब इस कली का विकास हो जाता है, तब इसकी पंखुड़ियाँ सम्पूर्ण आकाश में व्याप्त हो जाती है। अर्थात् उस समय जितना आकाश का क्षेत्र होता है, उस सर्वत्र क्षेत्र में कमल की पंखुड़ियाँ विद्यमान हुई दिखाई देती हैं, तब आकाश दिखाई नहीं देता है। कभी-कभी समाधि अवस्था में साधक अपने आप को कमल की पंखुड़ियों के ऊपर चलता हुआ देखता है। अभ्यास के अनुसार कुछ समय बाद परमशिव एवं आदिशक्ति सहस्त्रदल कमल के मध्य में बैठे हुए दिखाई देते हैं। एक समय ऐसा भी आता है, जब स्वयं साधक इस सहस्त्रदल कमल के मध्य में अपने आप को बैठा हुआ पाता है। साधक के बायीं ओर एक अद्वितीय सुन्दर स्त्री भी विराजमान रहती है, तब जीव को जीवेश्वर कहा जाता है। इस अवस्था में साधक की योग्यता बहुत बढ़ जाती है, तब वह जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त हो चुका होता है। शुरूआत के

अनुभव में साधक अपने आप को सहस्त्रदल कमल के मध्य में विराजमान हुआ देखता है। मगर यह योग्यता कई वर्षों बाद आती है। पहले अनुभव में दिखाई देने वाली योग्यता **गति** है मगर फिर कई वर्षों तक कठोर अभ्यास के बाद **स्थिति** प्राप्त होती है। इस अवस्था के प्राप्त होने से थोड़ा पहले एक बार फिर कुण्डलिनी-शक्ति सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर दिखाई देती है। उसका मुँह इस नाड़ी के सर्वोच्च सिरे पर होता है। वह अपने मुँह से बहुत ही छोटे-छोटे बीजों का पिण्ड (पिण्ड का आकार मटर के दाने के बराबर) नीचे की ओर गिराती हुई दिखाई देती है। ये चित्त पर स्थित कर्माशय बीज रूप में विद्यमान रहते हैं। जब पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं, फिर साधक को भविष्य में जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता है। उस समय कुण्डलिनी-शक्ति का स्वरूप अत्यन्त पारदर्शी वायु रूप में होता है। फिर कुण्डलिनी-शक्ति इस रूप में दिखाई नहीं देती है।

कोश

कोश का अर्थ होता है आवरण अथवा खोल। चेतन तत्त्व (आत्मा) के ऊपर पाँच आवरण चढ़े हुए हैं – 1. आनन्दमय कोश, 2. विज्ञानमय कोश, 3. मनोमय कोश, 4. प्राणमय कोश, 5. अन्नमय कोश। इन्हीं आवरणों के कारण मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप की (आत्मा की) अनुभूति नहीं हो पाती है। इसीलिए मनुष्य अपने स्वरूप को भूल गया है, इस स्थूल शरीर (अन्नमय कोश) को ही अपना वास्तविक स्वरूप समझ लिया है। जीवन भर इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए मनुष्य संसार में व्यवहार करता रहता है। बहिर्मुखी हुए मनुष्य कभी भी इच्छाओं की पूर्ति न होने के कारण सम्पूर्ण जीवन स्थूल पदार्थों की प्राप्ति हेतु संसार में भटकता रहता है और दुःख की अनुभूति करता रहता है। अगर मनुष्य इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके धारण, ध्यान, समाधि के द्वारा आन्तरिक विकास करना शुरू कर दे, तब कई जन्मों तक कठोर अभ्यास करने के बाद अपने चेतन स्वरूप में स्थित हो सकता है। इन आवरणों के अन्दर विभिन्न प्रकार की दिव्य शक्तियाँ व केन्द्र विद्यमान हैं, अभ्यास के द्वारा इन केन्द्रों को व दिव्य शक्तियों को जाग्रत कर उचित लाभ प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्य अपना आन्तरिक विकास करके मानव से महामानव बन सकता है। इसके लिए मनुष्य को अभ्यास द्वारा इन आवरणों को शुद्ध करते हुए अपना आन्तरिक विकास करना होगा।

जिस प्रकार प्याज में आवरण ही आवरण होते हैं, यदि इन आवरणों को हटाते चले जाएँ तो अन्त में प्याज का अस्तित्व ही नहीं रह जाएगा अर्थात् प्याज का अस्तित्व आवरणों द्वारा ही है। इसी प्रकार धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा इन कोशों में अन्तर्मुखी होते हुए विकास करते जाएँ, फिर एक समय ऐसा भी आयेगा जब आप इन आवरणों के प्रभाव से मुक्त हो जाएँगे, तब आप अपने स्वरूप में स्थित हो जाएँगे। चार प्रकार के शरीर माने जाते हैं – 1. महाकारण शरीर, 2. कारण शरीर, 3. सूक्ष्म शरीर, 4. स्थूल शरीर। ये शरीर आवरण मात्र ही होते हैं। इसी प्रकार पाँच प्रकार के कोश होते हैं – चेतन तत्त्व (आत्मा) के ऊपर चढ़े हुए आवरण का नाम आनन्दमय कोश है, आनन्दमय कोश के ऊपर चढ़े हुए आवरण का नाम

विज्ञानमय कोश है, विज्ञानमय कोश के ऊपर चढ़े हुए आवरण का नाम मनोमय कोश है, मनोमय कोश के ऊपर चढ़े हुए आवरण का नाम प्राणमय कोश है, प्राणमय कोश के ऊपर चढ़े हुए आवरण का नाम अन्नमय कोश है। अन्नमय कोश को ही स्थूल शरीर कहते हैं।

चेतन तत्त्व के ऊपर आनन्दमय कोश चढ़ा रहता है, इसलिए आनन्दमय कोश का घनत्व बहुत ही कम होता है, अन्य कोशों की अपेक्षा इसकी व्यापकता सबसे ज्यादा होती है इसकी सीमाएँ अनन्त हैं। आनन्दमय कोश के ऊपर विज्ञानमय कोश चढ़ा हुआ है। विज्ञानमय कोश का घनत्व आनन्दमय कोश से अधिक होता है, इसलिये आनन्दमय कोश की अपेक्षा विज्ञानमय कोश की सीमाएँ छोटी होती हैं, अर्थात् विज्ञानमय कोश आनन्दमय कोश के अन्दर समाया हुआ है, क्योंकि आनन्दमय कोश की व्यापकता विज्ञानमय कोश से ज्यादा होती है। इसी प्रकार विज्ञानमय कोश के ऊपर मनोमय कोश चढ़ा हुआ है। इस मनोमय कोश का घनत्व विज्ञानमय कोश से अधिक होता है, इसलिए मनोमय कोश की सीमाएँ विज्ञानमय कोश की अपेक्षा छोटी होती हैं; अर्थात् मनोमय कोश विज्ञानमय को अन्दर समाया हुआ है क्योंकि विज्ञानमय की व्यापकता मनोमय कोश से ज्यादा है।

मनोमय कोश के ऊपर प्राणमय कोश चढ़ा रहता है। प्राणमय कोश का घनत्व मनोमय कोश से ज्यादा है, इसलिए प्राणमय कोश की सीमाएँ मनोमय कोश से छोटी होती हैं अर्थात् प्राणमय कोश मनोमय कोश के अन्दर समाया हुआ है क्योंकि मनोमय कोश की व्यापकता प्राणमय कोश से ज्यादा होती है। प्राणमय कोश के ऊपर अन्नमय कोश चढ़ा हुआ है, अन्नमय कोश का घनत्व प्राणमय कोश से बहुत ज्यादा होता है, इसलिए अन्नमय कोश की सीमाएँ प्राणमय कोश की अपेक्षा बहुत ही कम होती है। यह सिर्फ स्थूल शरीर के रूप में रह गया है अर्थात् प्राणमय कोश की व्यापकता अन्नमय कोश से बहुत ही ज्यादा होती है।

अन्नमय कोश की अपेक्षा प्राणमय कोश ज्यादा व्यापक होता है तथा घनत्व भी कम होता है इसलिए प्राणमय कोश अन्नमय कोश से ज्यादा शुद्ध रहता है। प्राणमय कोश की अपेक्षा मनोमय ज्यादा व्यापक होता है तथा उसका घनत्व भी कम होता है इसलिए प्राणमय

कोश की अपेक्षा मनोमय ज्यादा शुद्ध रहता है। मनोमय कोश की अपेक्षा विज्ञानमय कोश ज्यादा व्यापक होता है तथा उसका घनत्व भी कम होता है, इस कारण विज्ञानमय कोश मनोमय कोश से ज्यादा शुद्ध रहता है। विज्ञानमय कोश की अपेक्षा आनन्दमय कोश ज्यादा व्यापकता वाला होता है क्योंकि आनन्दमय कोश का घनत्व बहुत ही कम होता है, इसलिए इस कोश की शुद्धता भी अधिक होती है। आनन्दमय कोश पूर्ण रूप से शुद्ध रहता है।

1. आनन्दमय कोश

प्रकृति दो स्वरूपों में विद्यमान रहती है अथवा प्रकृति दो स्वरूपों वाली है, 1. परा-प्रकृति, 2. अपरा-प्रकृति। परा-प्रकृति में गुण साम्यावस्था में रहते हैं, साम्यावस्था में रहने के कारण गुणों में किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती है, इसलिये परा-प्रकृति अपरिवर्तनीय है। यहाँ पर सत्वगुण प्रधान रूप से रहता है रजोगुण व तमोगुण की उपस्थिति लेश मात्र रहती है। परा-प्रकृति अपरिवर्तनीय होने के कारण सत्वगुण सदैव अपनी विशुद्धता से युक्त रहता है क्योंकि गुणों में किसी प्रकार की क्रिया ही नहीं होती है। सत्वगुण का स्वभाव हल्कापन, प्रकाश और आनन्द स्वरूप है। आनन्दमय कोश का सम्बन्ध इसी परा-प्रकृति से रहता है अर्थात् जीवनमुक्त योगी परा-प्रकृति में अन्तर्मुखी रहते है इसीलिए उन्हें कहा जाता है अमुक योगी आनन्दमय कोश में स्थित है।

परा-प्रकृति को ईश्वर का चित्त भी कहा जाता है। क्योंकि जब चेतन तत्त्व का सम्बन्ध परा-प्रकृति से होता है, तब उसे ईश्वर, भगवान, और सगुण ब्रह्म कहते हैं। जब चेतन तत्त्व का सम्बन्ध अपरा-प्रकृति से होता है, तब उसे जीव कहते है। इसीलिए ईश्वर को सच्चिदानन्द कहते हैं। आनन्दमय कोश के अन्तर्गत वही अभ्यासी अभ्यास कर रहा होता है, जिसके चित्त पर ऋतंभरा-प्रज्ञा का प्राकट्य हो चुका है और अभ्यास के द्वारा अविद्या की जड़ें पूर्ण रूप से नष्ट

करने के निकट है। दूसरे शब्दों में तत्त्वज्ञानी पुरुष ही आनन्दमय कोश के अन्तर्गत अभ्यास करता है। इस प्रकार के शब्द मैंने इसलिए लिखे हैं ताकि अभ्यासी को किसी प्रकार का इस विषय में भ्रम न हो जाए। जो साधक थोड़ा सा अभ्यास करने के बाद ही कहने लगते हैं कि ध्यान में मुझे बहुत आनन्द आ रहा था, वे यह नहीं समझते कि यह आनन्द अन्तर्मुखी होने के कारण आता है, उस समय सत्वगुण की मात्रा थोड़ी सी चित्त पर बढ़ जाती है, वही सत्वगुण क्षणिक देर तक आनन्द की अनुभूति कराता है। इसे आनन्दमय कोश के अन्तर्गत अभ्यास नहीं कह सकते हैं। उदाहरण – इन्द्रियों के अनुकूल स्थूल पदार्थ के भोग के समय कहने लगते हैं, अमुक वस्तु बहुत ही अच्छी थी, उसमें आनन्द आ गया। जैसे – रसगुल्ला अथवा सेब खाने के बाद कहने लगते हैं कि इसके खाने में आनन्द आ गया तथा अच्छी जगह घूमने पर ही आनन्द की अनुभूति करने लगते हैं। ये आनन्द नहीं है, सिर्फ इन्द्रिय-सुख है, क्योंकि सुख भोगने के कुछ समय बाद दुःख की अनुभूति करने लगते हैं, इसका कारण अविद्या होती है।

आनन्दमय कोश का स्वभाव होता है – जिसे एक बार इसकी अनुभूति हो गयी, फिर सदैव उसकी अनुभूति होती रहती है अर्थात् ऐसा अभ्यासी सदैव के लिए आनन्द में स्थित हो जाता है, फिर उसे दुःख छू भी नहीं सकता है। यही कारण है आज तक तत्त्वज्ञानी पुरुष कभी भी दुखी नहीं देखे गये है। संसारी मनुष्य भले यह समझ ले कि ऐसा व्यक्ति दुखी होता है, मगर ऐसा सत्य नहीं है, तत्त्वज्ञानी पुरुष का चाहे जितना अपमान किया जाए, चाहे उसके शरीर को चोट पहुँचाई जाए, तब भी वह समुद्र की तरह शान्त ही रहता है। हाँ, परिस्थितिवश वह क्रोधित होता हुआ दिखाई दे सकता है, मगर वह अन्दर से शान्त होता है, जैसे समुद्र में ऊँची-ऊँची लहरें उठती हैं मगर गहराई में वह सदैव शान्त ही रहता है। क्योंकि जीवन्मुक्त पुरुष ने अभ्यास द्वारा चित्त पर स्थित अविद्या को नष्ट कर दिया है, अब उसका चित्त ज्ञान से युक्त हो चुका है। अब अज्ञान से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। यह महिमा आनन्दमय कोश के अन्तर्गत अभ्यास करने वालों की है। इसीलिए आनन्दमय कोश के अन्तर्गत अभ्यास करने वालों की गिनती मात्र कुछ ही है।

चित्त पर स्थित अविद्या का नाश सिर्फ ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा ही होता है, ऋतम्भरा-प्रज्ञा सत्य को भरने वाली होती है, इसका अविद्या से विरोध रहता है। कारण शरीर (चित्त) जब शुद्धता की चरम सीमा पर पहुँचता है वह व्यापक होने लगता है अथवा व्यापकता को प्राप्त हो जाता है, तब उसके अन्दर परा-प्रकृति का अवतरण होने लगता है। अभ्यासी द्वारा विज्ञानमय कोश का विकास होने के बाद आनन्दमय कोश में अन्तर्मुखी होने लगता है। इसी को कहते हैं – "ईश्वर के चित्त में अन्तर्मुखी होने लगा है"। ऐसा सबीज समाधि में पारंगता के बाद होता है; जब तक सबीज समाधि में पारंगता प्राप्त नहीं होती है, तब तक अभ्यासी विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत रहता है। जब तक चित्त पर कर्माशय विद्यमान रहते हैं तथा चित्त की भूमि नष्ट नहीं होती है, तब तक उसकी अवस्था विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत ही मानी जाएगी। उस समय तक अहंकार बहिर्मुखी होकर कार्य करता रहता है, अहंकार के साथ बुद्धि भी विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत आती है।

सात्विक अहंकार और शुद्ध निर्मल चित्त आनन्दमय कोश के अन्तर्गत आते हैं, उस समय अभ्यासी के चित्त पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य हो चुका होता है। जिस भूमि पर कर्माशय विद्यमान रहते थे, वह चित्त की भूमि टूट चुकी होती है। तब चित्त ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो जाता है। अभ्यासी को प्रकृति के पाँचों तत्वों का साक्षात्कार पहले ही हो चुका होता है, अब उसके लिए अपरा-प्रकृति नष्ट हुए के समान हो जाती है। तब अपरा-प्रकृति अभ्यासी के लिये बन्धन-स्वरूप नहीं रह जाती है। फिर योगी (अभ्यासी) ईश्वर से प्रेरित होकर समाज में कल्याण करता रहता है। कभी गुप्त रूप से, कभी प्रत्यक्ष रूप से कार्य करता है। ऐसी अवस्था वाले कुछ योगी समाज का कल्याण करते रहते हैं, कुछ योगी अत्यन्त गुप्त रहकर अपना जीवन व्यतीत करते रहते हैं और आनन्दमय कोश अर्थात् ईश्वर के चित्त में अन्तर्मुखी होकर स्थित रहते हैं। आनन्दमय कोश की प्राप्ति जीव के जीवन चक्र के आखिरी जन्म में होती है फिर जन्म, आयु और मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है।

अपरा-प्रकृति सदैव विषमावस्था में रहती है। विषमावस्था का कारण तीनों गुण हैं। ये गुण सदैव आपस में क्रिया करते रहते हैं, कभी भी शान्त होकर नहीं रहते हैं, सदैव एक-दूसरे को दबाते रहते हैं। इसी कारण अपरा-प्रकृति में सदैव परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक पदार्थ में ये गुण न्यूनाधिक अवस्था में रहते हैं, इसीलिये प्रकृति को परिवर्तनशील कहा जाता है। सृष्टि के सृजन के समय बहिर्मुखता होने पर तमोगुण की मात्रा क्रमशः बढ़ती रहती है। तमोगुण की मात्रा क्रमशः बढ़ने के कारण घनत्व भी बढ़ता जाता है, फिर अन्त में वह ठोसता को प्राप्त हो जाती है अर्थात् स्थूल पंच भूतों के द्वारा स्थूल जगत तथा स्थूल शरीर का निर्माण होता है। फिर सारा व्यापार तमोगुण की प्रधानता से युक्त होकर होता रहता है।

2. विज्ञानमय कोश

चेतन तत्त्व का सम्बन्ध जब अपरा-प्रकृति से होता है तब वह जीव कहा जाता है जीव का चित्त इसी अपरा-प्रकृति द्वारा बना होता है, यह अपरा-प्रकृति तीन अवस्थाओं में अपना सृजन करती है: 1. कारण अवस्था, 2. सूक्ष्म अवस्था, 3. स्थूल अवस्था में। पाँचों कोशों में आनन्दमय कोश के अतिरिक्त शेष चार कोश इसी अपरा-प्रकृति से सम्बन्धित होते है। सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत आती है, फिर विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत तीनों कोश विद्यमान है। मैं थोड़ा और स्पष्ट कर दूँ – जिसके चित्त पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य हो गया है और परा-प्रकृति का अवतरण होने लगा है अर्थात् चित्त में सत्वगुण की प्रधानता आने लगी है, इस अवस्था में चित्त को आनन्दमय कोश के अन्तर्गत ही कहेंगे, क्योंकि इस अवस्था में आनन्द की अनुभूति होने लगती है। जिस चित्त पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य नहीं हुआ, ऐसे मलिन चित्त को तब तक विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत कहेंगे। आनन्दमय कोश की अवस्था प्राप्त करने के लिए चित्त से अविद्या का नाश होना अति आवश्यक है। महाकारण

शरीर ही आनन्दमय कोश है, कारण शरीर (चित्त) का सम्बन्ध विज्ञानमय कोश से सम्बन्धित होता है। यह बात मैंने बहुत बारीकी से बताई है, लेकिन बोल-चाल की भाषा में चित्त को ही आनन्दमय कोश कहते हैं, क्योंकि चित्त जब परम शुद्धता को प्राप्त होता है तब आनन्द की अनुभूति होने लगती है। मगर संसारी मनुष्यों का चित्त आनन्द की अनुभूति नहीं करा सकता है। सिर्फ जीवन्मुक्त पुरुष का चित्त ही आनन्द की अनुभूति कराता है।

जिन अभ्यासियों का अभ्यास विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत चल रहा है, उन्हें अभी सबीज समाधि की पारंगता प्राप्त नहीं हुई है, उसके चित्त पर अभी कर्माशय विद्यमान रहते हैं। ऋतम्भरा-प्रज्ञा का अभी प्राकट्य न होने के कारण उसके चित्त पर अभी अविद्या विद्यमान है। उसके अभी कर्माशय भी न्यून मात्रा में बन रहे हैं। जब चित्त की भूमि का नाश हो जाता है, तब चित्त पर नये कर्माशय बनना बन्द हो जाते हैं। क्योंकि ऋतम्भरा-प्रज्ञा के प्रकाश में उन कर्माशयों का साक्षात्कार करा दिया जाता है। विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत अहंकार और बुद्धि आते हैं।

3. मनोमय कोश

मनोमय कोश के अन्तर्गत मन और ज्ञानेन्द्रियाँ आती हैं। इसी कोश के अन्तर्गत मन में उत्पन्न होने वाले विकार आदि आते हैं। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा स्थूल पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कराया जाता है, इसी कारण मन सदैव स्थूल पदार्थों की ओर भागता रहता है और प्राप्त करने की इच्छा करता है। नये साधकों को इस कोश से बहुत अवरोध आते हैं, क्योंकि जब वे मन को एकाग्र करने का प्रयास करते हैं, तब चंचल हुआ मन बहिर्मुखी होकर भागता रहता है। अविद्या और तमोगुण से आच्छादित हुआ चित्त मनोमय कोश के प्रभाव से संशय, शोक और मोह आदि से युक्त रहता है। मनोमय कोश इच्छा-शक्ति से युक्त रहता है। मगर मलिन हुआ मनोमय कोश की इच्छाशक्ति अत्यन्त कमजोर होती है।

4. प्राणमय कोश

प्राणमय कोश के अन्तर्गत पाँचों प्राण व पाँचों इन्द्रियाँ आते हैं। प्राणों के द्वारा ही सम्पूर्ण प्राणी जीवित रहते हैं, प्राणों के कारण ही भूख और प्यास की अनुभूति होती है। प्राणमय कोश में ही क्रिया शक्ति विद्यमान रहती है, प्राण तत्त्व (वायु तत्त्व) के द्वारा ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एवं शरीर में क्रिया हो रही होती है। शरीर के अन्दर प्राण यदि सही ढंग से कार्य कर रहा है, तब शरीर के अंग व ग्रन्थियाँ भी सही ढंग से कार्य करेंगे अर्थात् व्यवस्थापूर्वक क्रिया होती रहेगी। तब वह शरीर स्वस्थ व निरोगी बना रहेगा। अगर प्राण सही ढंग से कार्य नहीं कर रहा है, तब शरीर के अंग व ग्रन्थियाँ सही ढंग से कार्य नहीं कर पाएँगे। उस समय शरीर में विभिन्न प्रकार की बीमारियाँ हो जाने का भय बना रहेगा, इसलिये प्राणमय कोश का शुद्ध बना रहना अति आवश्यक है।

5. अन्नमय कोश

अन्नमय कोश अन्न के रस से उत्पन्न होकर, अन्न के द्वारा उसका पालन पोषण होता है तथा अन्न के द्वारा ही शरीर वृद्धि करता है, इसीलिए इसे अन्नमय कोश कहा जाता है। अन्नमय कोश को ही स्थूल शरीर कहते हैं। मनुष्य द्वारा जैसा भोजन ग्रहण किया जाता है, उसका सीधा प्रभाव स्थूल शरीर पर पड़ता है। स्थूल शरीर स्थूल पंच भूतों के द्वारा बना होता है, इसलिये अन्नमय कोश के अन्तर्गत स्थूल शरीर व स्थूल इन्द्रियाँ आते हैं।

चेतन तत्त्व के ऊपर पहला आवरण आनन्दमय कोश होता है, आनन्दमय कोश के ऊपर विज्ञानमय कोश चढ़ा (विद्यमान) होता है, विज्ञानमय कोश के ऊपर मनोमय कोश चढ़ा रहता है, मनोमय कोश के ऊपर प्राणमय कोश चढ़ा रहता है, प्राणमय कोश के ऊपर अन्नमय कोश

चढ़ा रहता है। अन्नमय कोश इन स्थूल आँखों के द्वारा दिखाई देता है। अन्य चारों कोश इन स्थूल आँखों के द्वारा नहीं दिखाई दे सकते हैं। क्योंकि उन कोशों का क्रमशः घनत्व कम होता जाता है और व्यापकता बढ़ती जाती है। दिव्य दृष्टि के द्वारा ही योग्यतानुसार सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ दिखाई देते हैं, इसलिए श्रेष्ठ अभ्यासियों को ही दिव्य-दृष्टि के द्वारा इन सभी आवरणों (कोशों) का साक्षात्कार होता है।

सामान्य मनुष्य अन्नमय कोश के अतिरिक्त अन्य चारों कोश को न तो देख सकते हैं और न ही उनकी अनुभूति कर सकते हैं। क्योंकि वे अन्नमय कोश को ही सत्य माने हुए हैं, अन्य कोशों के विषय में जानने की कभी इच्छा भी नहीं की और न ही प्रयास किया करते हैं। यदि बिना चित्त-शुद्धि के स्थूल दृष्टि से प्रयत्न करें, तो भी मलिनता के कारण सूक्ष्म कोशों की अनुभूति करना उनके लिए संभव नहीं होगा। यदि इन कोशों के विषय में इन मनुष्यों को समझाने का प्रयास करो, तब ये समझने (स्वीकार) के लिए तैयार भी नहीं होते हैं, इन सब बातों को असत्य मानते है। ऐसे मनुष्यों के अन्दर अज्ञानता की जड़ें इतनी गहराई तक समाई हुई होती हैं कि वे सत्य को स्वीकार नहीं भी कर पाते हैं। इसका कारण यह है कि उनके चित्त में मलिनता का आवरण बहुत ही मोटा चढ़ा रहता है, जिससे ज्ञान और सत्य के विषय में सुनना भी पसन्द नहीं करते हैं, बल्कि कुतर्क करने लगते हैं। ऐसे मनुष्य अपने-आपको अज्ञानता से इतना बाँधे हुए हैं कि जो स्थूल नेत्रों से दिखाई दे रहा है, वही सत्य मानते हैं। अन्य सूक्ष्म पदार्थों से निर्मित ब्रह्माण्ड व ईश्वरीय सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार नहीं कर पाते हैं। ऐसे मलिन बुद्धि वाले लोगों को समझाना बहुत दुष्कर है। या तो वे सूक्ष्म जगत का अस्तित्व स्वीकार ही नहीं करेंगे, अथवा उनका उत्तर यही होता है – ईश्वरीय सत्ता सूक्ष्म रूप से होगी, उससे मुझे क्या लेना देना है मुझे तो अपने परिवार का पालन पोषण करना है। अर्थात् ऐसे मनुष्य श्रेष्ठता का जीवन जीना स्वीकार्य नहीं करते हैं, मनुष्य का शरीर प्राप्त तो हो गया मगर पशुओं के समान भोग भोगकर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

कुछ अभ्यासियों ने आन्तरिक विकास करने का प्रयास किया मगर अवरोध आने पर हताश हो गये अथवा परिस्थितियाँ प्रतिकूल आने पर अभ्यास करना बन्द कर दिया। कुछ साधक अभ्यास में लगे रहते हैं, मगर उनकी सोच होती है – शायद चक्र खुल जाएँ और कुण्डलिनी भी जाग्रत हो जाएगी तो कुछ प्राप्त हो जाएगा, अर्थात् अभ्यास करते समय सांसारिक स्वार्थ छुपा रहता है। ऐसे अभ्यासी मैंने बहुत देखे हैं जो अध्यात्म के द्वारा सांसारिक लाभ लेना चाहते है। इन सबका कारण है – आजकल समाज में अध्यात्म के विषय में नवयुवकों को सही जानकारी का प्राप्त नहीं होती है, इसी कारण आध्यात्मिक सत्य को स्वीकार नहीं कर पाते हैं। अगर किसी ने इस विषय में रुचि ली अथवा अभ्यास करना शुरू कर दिया, तब उसके घर-परिवार के सगे-सम्बन्धी अवरोध डालने लगते हैं। अब आप कहेंगे – आप तो कोशों के विषय में बता रहे थे, इस प्रकार का विषय क्यों आ गया। मैं यही बताने का प्रयास कर रहा हूँ – जब तक यम-नियम और अभ्यास के द्वारा इन कोशों को शुद्ध करने का प्रयास नहीं करेंगे, तब तक इन कोशों की अनुभूति नहीं होगी और इन कोशों के शुद्ध होने पर जो श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होती है, वह भी नहीं मिल सकेगी। इसलिए इन कोशों से समुचित लाभ प्राप्त करने के लिये इनका शुद्ध होना अति आवश्यक है।

मनुष्य यदि अभ्यास के द्वारा अपना आन्तरिक विकास करता हुआ इन कोशों को शुद्ध कर ले, तब वह मानव से महामानव बन जाएगा तथा संसार के आवागमन से मुक्त हो जाएगा अर्थात् जन्म, आयु और मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाएगा। इसके लिये कई जन्मों तक लगातार अभ्यास करना पड़ेगा, फिर अन्तिम जन्म में आनन्दमय कोश में अन्तर्मुखी होने का आरम्भ होता है, तब इस दुःख रूपी संसार से मुक्त हो जाएगा। इन कोशों को शुद्ध बनाने के लिए और आन्तरिक विकास के लिए अभ्यासी को अन्तर्मुखी होना ही होगा। इसके लिए प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि का सहारा लेना होगा। तब इन कोशों में क्रमशः शुद्धता आनी शुरू होने लगेगी। सबसे पहले अन्नमय कोश को शुद्ध करना पड़ता है, फिर क्रमशः धीरे-धीरे अभ्यासानुसार आगे की ओर बढ़ते हैं।

कोशों की शुद्धि

चेतन तत्त्व के ऊपर चढ़ा हुआ पाँचवाँ कोश अन्नमय कोश है; यह सबसे अधिक घनत्व वाला कोश है, इसलिए ठोसता को प्राप्त है। इनके अन्तर्गत स्थूल शरीर व स्थूल इन्द्रियाँ आती हैं। स्थूल शरीर को ही अन्नमय कोश कहते हैं, स्थूल शरीर का निर्माण अन्न के रस द्वारा होता है अर्थात् अन्न के रस से बने रज और वीर्य के द्वारा उत्पन्न होता है तथा इसका पालन-पोषण अन्न के द्वारा होता है। अन्नमय कोश को शुद्ध रखने के लिए सात्विक भोजन ग्रहण करना चाहिये। सात्विक और उचित मात्रा में भोजन सुपाच्य होता है तथा पाचन क्रिया अच्छी बनी रहती है, पाचन क्रिया सुचारु रूप से रहने पर स्थूल शरीर निरोगी सा रहता है। इस शरीर का निरोगी और स्वस्थ रहना अति आवश्यक है। चूंकि भोजन (अन्न) का सीधा प्रभाव अन्नमय कोश पर पड़ता है, इसलिये भोजन सात्विक और सन्तुलित होना चाहिये। साथ में उचित आसनों का भी अभ्यास करते रहना चाहिए। आसनों के द्वारा शरीर की माँसपेशियाँ व आन्तरिक अंग पुष्ट होते हैं। स्थूल इन्द्रियों को शुद्ध करने के लिए, इन्हें स्थिर करके अन्तर्मुखी बनाने का प्रयास करना चाहिये। इसके लिए किसी सिद्ध आसन पर स्थित होकर बैठ जाना चाहिए, फिर रीढ़ को सीधी करके मन को भृकुटी पर केन्द्रित करने का प्रयास करें, इस प्रकार के निरन्तर अभ्यास से इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होने लगेंगी, इन्द्रियों के शुद्ध होने पर अन्नमय कोश शुद्ध होने लगेगा।

प्राणमय कोश के अन्तर्गत पाँचों प्राण और पाँचों सूक्ष्म कर्मेन्द्रियाँ आती हैं, पाँचों प्राण अन्नमय कोश और प्राणमय कोश दोनों को प्रभावित करते है, कर्मेन्द्रिय सूक्ष्म है ये सूक्ष्म शरीर से सम्बन्धित है। प्राणमय कोश को शुद्ध करने के लिए सात्विक भोजन ग्रहण करना अति आवश्यक है, क्योंकि जिस प्रकार का भोजन ग्रहण किया जाएगा, उसका सूक्ष्मता से प्राण पर प्रभाव पड़ेगा अर्थात् सात्विक भोजन करने से प्राण भी सात्विक बनेगा, तामसिक भोजन से प्राण अशुद्ध (तमोगुणी) बनेगा। इसलिये प्राणमय कोश शुद्ध करने के लिये अभ्यासी को ज्यादा तला हुआ मसालेदार भोजन त्याज्य होता है। प्राणायाम के द्वारा प्राणों को शुद्ध किया जाता है

प्राणायाम का प्रभाव प्राणों पर सीधा पड़ता है, प्राणायाम करने के लिये विभिन्न प्रकार की विधियाँ है। किसी अनुभवी गुरु के मार्गदर्शन में प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। प्राणमय कोश को शुद्ध करने के लिये सूर्यनाड़ी-चन्द्रनाड़ी प्राणायाम (अनुलोम-विलोम) और भस्त्रिका प्राणायाम सर्वाधिक उपयोगी होता है, इनके अभ्यास से प्राणमय कोश शीघ्रता से शुद्ध होने लगेगा।

मनोमय कोश के अन्तर्गत मन और सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ आती हैं। मन को शुद्ध करने के लिये प्राणायाम का अभ्यास करना अति आवश्यक है, क्योंकि मन को शक्ति प्राणों के द्वारा मिलती है। मन का विकार उसकी चंचलता है अर्थात् मन सदैव इधर-उधर भागता रहता है। कभी इस पदार्थ पर कभी दूसरे पदार्थ पर भ्रमण करता रहता है। अगर प्राणों की गति को रोक दिया जाए, तब मन की गति अपने आप रुक जाती है। प्राणायाम करने से चित्त की मलिनता नष्ट होने लगती है और वृत्तियों में भी शुद्धता आने लगती है अर्थात् मन शुद्ध होने लगता है। त्राटक के अभ्यास से भी मन स्थिर होने लगता है तथा मन में शुद्धता आने लगती है। ध्यान के द्वारा जब मन को ध्येय वस्तु पर स्थिर करने का प्रयास करते हैं, तब मन में अभ्यासानुसार धीरे-धीरे शुद्धता आने लगती है। ध्यानावस्था में मन जितनी ज्यादा देर तक स्थिर रहता है उतनी ही ज्यादा मन के अन्दर शुद्धता आने लगती है। मंत्रजाप के द्वारा, ईश्वर चिंतन के द्वारा, आध्यात्मिक पुस्तकें पढ़ने से भी मन के अन्दर शुद्धता आने लगती है अर्थात् मनोमय कोश को शुद्ध करने के लिए विभिन्न प्रकार के उपाय एक साथ अपनाते रहें, तब मनोमय कोश शीघ्रता से शुद्ध होने लगेगा।

विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत बुद्धि और अहंकार आते हैं। समाधि के अभ्यास के द्वारा विज्ञानमय कोश शुद्ध किया जाता है, अभ्यासी समाधि का जितना अधिक अभ्यास करेगा, उतना ही ज्यादा विज्ञानमय कोश के अन्दर अन्तर्मुखी होगा जितना अधिक अन्तर्मुखी होता जाएगा, उतना ही इस कोश के अन्दर शुद्धता आती जाएगी। विज्ञानमय कोश की सीमाएँ सबीज समाधि की अन्तिम अवस्था तक होती हैं। इस कोश के अन्तर्गत जब वह अभ्यास

करता है, उस समय चित्त पर स्थित संस्कारों का साक्षात्कार हुआ करता है तथा इस प्रकार के संस्कारों का नाश हुआ करता है तथा चित्त भी शुद्ध हुआ करता है। इसका प्रभाव अहंकार और बुद्धि पर पड़ता है। पूर्णरूप से विज्ञानमय कोश एक जन्म के अभ्यास से शुद्ध नहीं हो सकता है; साधक जब कई जन्मों तक लगातार अभ्यास करता रहता है, तब अंतिम जन्म में उसका विज्ञानमय कोश शुद्धता को प्राप्त हो पाता है। तब अंतिम जन्म में निश्चय ही अत्यन्त कष्ट वाले क्लेशात्मक कर्म भोगने ही पड़ते हैं। जिस समय वह क्लेशात्मक कर्म भोग रहा होता है, तब उसे संसार के वास्तविक स्वरूप का भान होता है। जिसे वह अपना समझता है उन्हीं के द्वारा उसे कष्ट मिलते हैं। अभ्यासी को घोर कष्ट मिलना आवश्यक भी है, क्योंकि वह अनन्त काल से इस संसार को व सांसारिक रिश्तों को अपना समझता आया है, इस भ्रम को टूटना आवश्यक भी है, तभी तो आनन्दमय कोश में प्रवेश करने की उसके अन्दर योग्यता आयेगी। विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ इसी विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत आती हैं, कुछ अभ्यासी इन सिद्धियों के चक्कर में पड़े रहते हैं। सिद्धियों की सफलता और असफलता उसके अभ्यास पर निर्भर करती है। अगर छोटी-मोटी सिद्धि मिल भी गयी, तब अपना कीमती समय वह उस सिद्धि में नष्ट करते रहते हैं। इस प्रकार की सिद्धियाँ ज्ञान प्राप्ति के मार्ग में अथवा आनन्दमय कोश में अन्तर्मुखी होने में ~~वह~~ अवरोध-स्वरूप हैं। इसलिए बुद्धिमान साधक इन सिद्धियों के चक्कर में नहीं पड़ता है। वह सिद्धियों का मोह त्यागकर आगे बढ़ जाता है, फिर उसे आनन्दमय कोश की अवस्था प्राप्त होती है।

आनन्दमय कोश के अन्तर्गत चित्त आता है। अभ्यास के द्वारा जब सबीज समाधि की पारंगता प्राप्त होती है, तब चित्त की शुद्धि उच्चतम अवस्था में होती है। उस समय चित्त पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य होता है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा अभ्यासानुसार धीरे-धीरे अविद्या को नष्ट करती रहती है और ज्ञान का प्रकाश फैलाती रहती है। साधक के चित्त में जब तक ज्ञान का प्रवाह निरन्तर बहता रहता है अथवा निरन्तरता बनी रहती है, तब तक ईश्वर के चित्त में अंतर्मुखता बनी रहती है अथवा अपने स्वरूप में स्थित बना रहता है। जब ज्ञान के प्रवाह की निरन्तरता टूट जाती है, तब उसके चित्त पर व्युत्थान के संस्कार (संसार से सम्बन्धित) प्रकट

होने लगते हैं, फिर उसकी अवस्था विज्ञानमय कोश के अन्तर्गत आ जाती है। जब फिर अभ्यास के द्वारा ज्ञान का प्रवाह बहने निरन्तर लगता है तब वह आनन्दमय कोश में अन्तर्मुखी हो जाता है और आनन्द की अनुभूति करने लगता है। क्योंकि उस समय उसके अन्दर पर-वैराग्य प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार अभ्यास कई वर्षों तक चलता रहता है। बीच-बीच में कभी-कभी व्युत्थान के संस्कार प्रकट हो जाते हैं, क्योंकि चित्त इन संस्कारों का उपादान कारण है। ऐसा तब होता है जब साधक के चित्त पर ज्ञान के प्रवाह की निरन्तरता टूट जाती है। तब वह संसार के विषय में चिन्तन करने लगता है, फिर कुछ समय बाद ज्ञान का प्रवाह चित्त पर बहने लगता है। इसी प्रकार कई वर्षों तक अभ्यास करते रहने पर आनन्दमय कोश में अन्तर्मुखी रहने का समय बढ़ता रहता है। इस अवस्था में साधक को तत्त्वज्ञान प्राप्त हो चुका होता है और वह आनन्द की अनुभूति अभ्यासानुसार अवधि तक करता रहता है। आनन्द की अनुभूति सत्वगुण के द्वारा होती है क्योंकि सत्वगुण का स्वभाव आनन्द ही होता है, इसीलिए ईश्वर को सच्चिदानन्द कहते है। आनन्दमय कोश में अन्तर्मुखी होने के समय साधक का चित्त ईश्वर के चित्त (परा-प्रकृति) में अन्तर्मुखी होता है, ईश्वर का चित्त सत्वगुण की विशुद्धता से युक्त रहता है इसीलिये वह आनन्द स्वरूप है। जीव का चित्त गुणों की विषमावस्था से बना होता है, इसलिये परिणामी (विषमावस्था वाला) चित्त अविद्या से युक्त रहता है। ऐसा चित्त सिवाय दुःख के और कुछ भी नहीं होता है। जब साधक के अभ्यास के द्वारा उसके चित्त पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य हो जाता है, फिर कुछ समय अभ्यास के बाद उसका चित्त ज्ञान के प्रकाश से युक्त हो जाता है, तब उस चित्त में आनन्द की अनुभूति होने लगती है। अर्थात् ज्ञान के प्रकाश से युक्त चित्त में आनन्द की अनुभूति होती है, तब वह आनन्दमय कोश में अन्तर्मुखी रहता है। जब उसके चित्त पर व्युत्थान के संस्कार प्रकट होने लगते हैं जो दुःख स्वरूप (सांसारिक) होते हैं, तब वह साधक विज्ञानमय कोश के अवस्था के अन्तर्गत आ जाता है।

शरीर चार प्रकार के होते हैं – **1.** स्थूल शरीर, **2.** सूक्ष्म शरीर, **3.** कारण शरीर, **4.** महाकारण शरीर। स्थूल शरीर स्थूल पंचभूतों से बना होता है; इसका सम्बन्ध स्थूल जगत से रहता है, इसका रंग रक्त के समान लाल होता है। सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म पंचभूतों से बना होता है,

सूक्ष्म इन्द्रियों से लेकर अहंकार तक सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत आते हैं, इसका रंग श्वेत होता है। कारण शरीर के अन्तर्गत चित्त आता है, इसका रंग हल्का नीला चमकीला होता है। महाकारण शरीर ईश्वर (सगुण ब्रह्म) का होता है, इसका सम्बन्ध परा-प्रकृति से होता है, इसका रंग हल्का नीला चमकीला विलक्षणता को लिये होता है। ईश्वर का चित्त सत्वगुण की विशुद्धता से युक्त रहता है, जीव का चित्त सत्वगुणी होता है। दोनों के चित्त सत्वगुण की प्रधानता से युक्त होते हैं, मगर ईश्वर का चित्त सत्वगुण की विशुद्धता को लिए होता है। सत्वगुण का स्वभाव आनन्द से युक्त है।

तत्त्वज्ञान के समय प्राण तत्त्व की अवस्था

जिन मनुष्यों ने प्राणायाम और योग का अभ्यास नहीं किया है, उन्हें प्राण तत्त्व के शुद्धता के प्रभाव की अनुभूति नहीं हो पाती है और न ही प्राणवायु की शुद्धता की पराकाष्ठा के विषय में जान सकते हैं। योग के अभ्यास द्वारा जिस अभ्यासी को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है, सिर्फ वही प्राणवायु के महत्त्व और शुद्धता के विषय में जान पाते हैं। जिस मनुष्य के शरीर के अन्दर श्वास-प्रश्वास की क्रिया सामान्य रूप से जीवन पर्यन्त होती रहती है, कभी भी प्राणों को अपने अनुसार चलाने का अभ्यास नहीं किया है, उन्हें प्राणवायु की शुद्धता के महत्त्व के विषय में कैसे ज्ञात हो सकता है! बल्कि ऐसे मनुष्यों को स्थूल शरीर छूटने के बाद विभिन्न प्रकार की यातनाओं का सामना बहुत समय तक करना पड़ता है, निश्चित समय तक यातना सहने के पश्चात फिर जन्म ग्रहण करने का अवसर मिलता है। उस समय यह नहीं कहा जा सकता है कि उसे किस प्रकार के शरीर की प्राप्ति होगी। अगर उसे पशु, पक्षी, रेंगने वाले प्राणियों के समान शरीर मिला, तब उसे सदैव अपने द्वारा किये गये पूर्व कर्मों के कारण दुःख की अनुभूति होती रहेगी। इस प्रकार के शरीरों के द्वारा सिर्फ कर्मों के फल को भोगा जाता है, इन शरीरों के द्वारा नये प्रकार के कर्म नहीं किये जा सकते हैं। एक मात्र मनुष्य शरीर ही ऐसा है, जिसके द्वारा

स्वेच्छा से नये प्रकार के कर्म किये जा सकते हैं और योग के अभ्यास के द्वारा प्राणों का संयमन भी किया जा सकता है। फिर भी बहुत से अज्ञानी मनुष्य जीवन भर श्वास-प्रश्वास की ओर ध्यान नहीं देते हैं। मगर कुछ मनुष्य प्राणायाम के द्वारा श्वास-प्रश्वास को अपने अनुसार चलाने का प्रयास करते रहते हैं, उन्हें अभ्यासानुसार भविष्य में आध्यात्मिक उन्नति का लाभ मिलता है।

मैं लेख तथा चलचित्र (वीडियो) के द्वारा बता चुका हूँ – साधक की जब कुण्डलिनी जाग्रत होकर ऊर्ध्व होती है, उस समय कुण्डलिनी का स्वरूप अग्नि तत्त्व वाला होता है। कई वर्षों तक कठोर अभ्यास के द्वारा जब साधक की कुण्डलिनी जब पूर्ण यात्रा करके उसके हृदय में स्थित हो जाती है, तब कुण्डलिनी अपना अग्नि तत्त्व वाला स्वरूप छोड़कर वायु तत्त्व में स्थित हो जाती है। वायु तत्त्व के रूप में कुण्डलिनी शक्ति साधक के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाती है। इस अवस्था में साधक जब कई वर्षों तक अभ्यास करता रहता है, तब अभ्यास करते रहने के कारण योगबल बढ़ता रहता है, इससे साधक के अन्दर शक्तिपात करने की क्षमता बढ़ती रहती है। क्योंकि ऐसी अवस्था में अभ्यास करने पर चित्त पर स्थित कर्माशयों तथा मलिनता का नाश होता रहता है। इस प्रकार के अभ्यास से धीरे-धीरे साधक के शरीर का प्राण भी शुद्ध होता रहता है। प्राण तत्त्व जितना शुद्ध होगा, उसका प्रभाव स्थूल शरीर पर, सूक्ष्म शरीर पर और कारण शरीर पर भी पड़ता है, अर्थात् कारण शरीर भी स्वच्छ होता रहता है। इसी प्रकार अभ्यास जब कई जन्मों तक लगातार करता रहता है, फिर अन्तिम जन्म में जब वह फिर अभ्यास करना शुरू कर देता है, तब कुछ वर्षों के अभ्यास के बाद साधक सबीज समाधि की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेता है।

सबीज समाधि की पराकाष्ठा पर प्राण तत्त्व की शुद्धता भी चरम सीमा तक पहुँचने लगती है, तब इस अवस्था में ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य होने लगता है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा के प्राकट्य से चित्त पर ज्ञान का प्रकाश फैलने लगता है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा के प्राकट्य से साधक को समाधि अवस्था में उसका स्वरूप दिखाई देने लगता है। उसे समाधि अवस्था में भूमि के नीचे की ओर से अत्यन्त तेजस्वी सूर्य के समान (हजारों सूर्य के समान) प्रज्ञा दिखाई देने लगती है,

उस प्रज्ञा के प्रकाश की किरणें समाधि अवस्था में उसके चेहरे पर पड़ती हैं। वे किरणें इतनी तेजस्वी होती हैं कि वह चित्त की भूमि को भेदती हुई ऊपर की ओर निकल आती हैं, फिर साधक के चेहरे पर वह किरणें पड़ती हैं। चेहरे पर प्रकाश किरणें पड़ते ही साधक की समाधि भंग हो जाती है। साधक बाद में सोचने लगता है कि इतनी तेजस्वी किरणों का स्वरूप विलक्षणता को लिये हुए था, वे चित्त की भूमि को नीचे से पार करती हुई ऊपर निकल आयी, फिर चेहरे पर पड़ने लगी, और तभी उसकी समाधि भी भंग हो गयी। ऐसा सूर्य उसने कभी नहीं देखा था क्योंकि सूर्य तो आकाश में चमकता है, मगर यह सूर्य भूमि के नीचे चमक रहा था और उसकी किरणें चेहरे तक आ रही थी।

समाधि अवस्था में साधक के चेहरे पर जब पहली बार ज्ञान का प्रकाश (ऋतम्भरा-प्रज्ञा का) पड़ता है, तभी उसकी समाधि भंग हो जाती है। मनुष्य के जीवन में ऐसा पहली बार हुआ होता है क्योंकि उस समय जो वृत्ति अर्थस्वरूप में विद्यमान रहती है उसकी निरन्तरता समाधि अवस्था में ही टूट जाती है। ऐसा सदैव नहीं होता है। क्योंकि शुरूआत में ऋतम्भरा-प्रज्ञा कभी चित्त की भूमि के नीचे से, कभी जलाशय के नीचे से ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य हो जाता है। उसकी अत्यन्त तेजस्वी किरणें चित्त की भूमि को, तथा जलाशय के पानी को नीचे से भेदती हुई साधक के चेहरे पर आकर पड़ती है। पहले ऋतम्भरा-प्रज्ञा चित्त की भूमि के नीचे से दिखाई देगी फिर छोटे अथवा बड़े जलाशय के निचले भाग में दिखाई देती है। ऐसा कुछ ही बार होता है, फिर आकाश में उगते हुए सूर्य के समान दिखाई देती है। ऐसा इसलिए होता है उस समय चित्त पर जो सबसे ज्यादा घनत्व वाली वस्तु अथवा क्षेत्र होता है उसमें अधिक ठोसता के कारण तमोगुण का प्रभाव ज्यादा होता है। सबसे अधिक तमोगुण से प्रभावित वस्तु को ऋतम्भरा-प्रज्ञा अपने प्रभाव में लेती है ताकि उसका तमोगुण कम होकर शुद्धता को प्राप्त हो सके, उस क्षेत्र में ज्ञान का प्रकाश फैल सके और सत्वगुण की मात्रा ज्यादा हो सके। जिससे वह क्षेत्र ज्ञान के प्रकाश से भर कर शुद्ध और प्रकाशित हो सके।

मैंने अभी-अभी चित्त की भूमि शब्द का प्रयोग किया है, इस विषय पर दो शब्द लिखना चाहूँगा। मनुष्य द्वारा किये गये कर्मों के संस्कार (कर्माशय) चित्त की भूमि पर विद्यमान रहते हैं। इस भूमि पर दो प्रकार के संस्कार विद्यमान रहते हैं – **1.** संचित कर्म, **2.** प्रारब्ध कर्म।

संचित कर्म – सुषुप्तावस्था में सूक्ष्म रूप से चित्त की निचली सतह पर विद्यमान रहते हैं, ये कर्माशय इस जन्म में नहीं भोगे जाते हैं।

प्रारब्ध कर्म – चित्त की ऊपरी सतह पर प्रधान रूप से विद्यमान रहते हैं, ये कर्माशय वर्तमान जन्म में मनुष्य को निश्चय ही भोगने पड़ते हैं।

तीसरे प्रकार के भी कर्म होते हैं, इन्हें क्रियमाण कर्म कहते हैं। मनुष्य वर्तमान जीवन में जब नये कर्म करता है, उन नये कर्मों के द्वारा जो कर्माशय बनते हैं, उन्हें क्रियमाण कर्म कहते हैं। क्रियमाण कर्मों के कर्माशयों का कुछ भाग संचित कर्मों में मिल जाता है, इस प्रकार के कर्माशय अगले जन्मों में भोगे जाते हैं। क्रियमाण कर्मों के शेष कर्माशय प्रारब्ध कर्मों में मिल जाते हैं, फिर उन्हें वर्तमान जीवन में भोगना ही होता है। इस प्रकार क्रियमाण कर्म दो भागों में बँट जाते हैं, ये सभी कर्माशय चित्त की भूमि पर स्थित रहते हैं।

चित्त की भूमि का निर्माण वायु तत्त्व की प्रधानता के द्वारा होता है, वायु तत्त्व का स्वभाव स्पन्दन (कम्पन) करना होता है। इसीलिए चित्त की भूमि पर जिस स्थान पर कर्माशय विद्यमान रहते हैं, वहाँ पर सदैव स्पन्दन (कम्पन) होता रहता है। स्पन्दन होने से प्रारब्ध कर्माशयों पर प्रभाव पड़ता है तब ये कर्माशय (संस्कार) वृत्ति रूप में बाहर की ओर निकलने लगते हैं, फिर आँखों के द्वारा ये वृत्तियाँ तेजस् रूप में बाहर निकलकर स्थूल पदार्थों का स्वरूप धारण कर लेती हैं, फिर मस्तिष्क को धारण किये हुए स्वरूप का भान कराती हैं। जब चित्त पर कर्माशय विद्यमान रहते हैं, तब उनका स्वरूप वायु तत्त्व की प्रधानता से युक्त होता है; मगर जब वृत्तियाँ बाहर की ओर आँखों के द्वारा निकलती हैं, तब उनका स्वरूप तेजस् (प्रकाश) रूप में होता है, अर्थात् वृत्ति वायु रूप से तेजस् रूप में परिवर्तित हो जाती है। जैसे-जैसे वृत्तियाँ बहिर्मुखी होकर बाहर की ओर निकलती हैं, वैसे-वैसे उनका स्वरूप धीरे-धीरे पहले की अपेक्षा स्थूलता को प्राप्त होने लगता है, क्योंकि तमोगुण का प्रभाव बढ़ने लगता है। अन्तर्मुखता बढ़ने

पर सूक्ष्मता आने लगती है, तब सत्वगुण का प्रभाव बढ़ने लगता है। इसी प्रकार अन्तर्मुखी होने पर व्यापकता बढ़ती है, बहिर्मुखी होने पर व्यापकता घटने लगती है। वायु तत्त्व के बहिर्मुखी होने पर अग्नि तत्त्व का प्राकट्य होता है इसलिये अग्नि तत्त्व से वायु तत्त्व अधिक सूक्ष्म और व्यापक होता है।

जब ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य होता है, शुरूआत में मात्र कुछ क्षणों के लिये ही होता है। इसके ज्ञान का प्रकाश चित्त पर पड़ता है, धीरे-धीरे अभ्यासानुसार चित्त की मलिनता (अज्ञानता) नष्ट हो-होकर शुद्धता (ज्ञान) को प्राप्त होती रहती है। फिर एक समय ऐसा भी आता है, जब ऋतम्भरा-प्रज्ञा के प्रकाश में पाँचों तत्वों का साक्षात्कार होता है। पाँचों तत्वों का साक्षात्कार क्रमशः होता है, इन पाँचों तत्वों के दो प्रकार के स्वरूप होते हैं– **1.** सामान्य रूप, **2.** विशेष रूप। पहले पृथ्वी तत्त्व का, जल तत्त्व का, अग्नि तत्त्व का, वायु तत्त्व का और फिर अन्त में आकाश तत्त्व के सामान्य स्वरूप का साक्षात्कार होता है, फिर विशेष रूप का साक्षात्कार होता है। पाँचों तत्वों के साक्षात्कार के बाद अभ्यासी की आसक्ति प्रकृति के प्रति समाप्त होने लगती है, क्योंकि ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा अविद्या का नाश होने लगता है, उसी स्थान पर ज्ञान का प्रकाश भरने लगती है। इसी प्रकार यह क्रिया कई वर्षों तक चलती रहती है, अन्त में अविद्या को मूल से उखाड़ कर फेंक देती है, चित्त पर ज्ञान का प्रकाश फैला देती है, साधक का (जीवन्मुक्त पुरुष का) चित्त ज्ञान के प्रकाश से युक्त हो जाता है, तब वह जीव से जीवेश्वर बन जाता है और शिवत्व पद को प्राप्त हो जाता है। उस समय अभ्यासी अपने आपको, विकसित हुए सहस्त्र दल कमल के ऊपर बैठा हुआ देखता है, उसके साथ उसके बगल में बायीं ओर स्त्री रूप में शक्ति भी विराजमान रहती है। ऐसा अभ्यासी फिर इस भूलोक पर बहुत ज्यादा समय तक नहीं रहता है। प्रारब्ध वेग से सधा हुआ स्थूल शरीर फिर गिर जाता है अर्थात् शरीर छूट जाता है, अभ्यासी अपने लोक (परा-प्रकृति) को चला जाता है फिर कभी भी प्रकृति के बंधन में बंधकर वापस जन्म ग्रहण करने नहीं आता है। क्योंकि अब जन्म ग्रहण करने का कोई कारण नहीं रह जाता है। जन्म ग्रहण करने का कारण चित्त पर स्थित अविद्या होती है। अविद्या के कारण चित्त पर कर्माशय बनते रहते हैं, अविद्या ही कर्माशयों की जननी है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा

अविद्या को मूल से उखाड़ कर फेंक देती है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह योग के अभ्यास द्वारा अपने चित्त पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य होने के लिये प्रयासरत रहे, ताकि वह अपने स्वरूप में स्थित हो सके।

चित्त की भूमि का निर्माण तभी हो जाता है, जब आदिकाल में जीव सगुण ब्रह्म से (ईश्वर से) प्रकट होकर अपरा-प्रकृति में जन्म ग्रहण करने के लिये आ जाता है। उस समय जीव के अन्दर भाव आ जाता है – "यह प्रकृति मेरी है"। जबकि अपरा-प्रकृति का स्वामी ईश्वर होता है। जीव के लिए अपरा-प्रकृति को अपना समझना ही अज्ञानता (अविद्या) है, उसी समय उसके चित्त में भूमि का निर्माण हो जाता है। भूमि के निर्माण में वायु तत्त्व की प्रधानता रहती है। जन्म ग्रहण करने के बाद उसके द्वारा किये गये कर्मों के कर्माशय (संस्कार) चित्त की भूमि पर स्थित होते रहते हैं। फिर यही कर्माशय चित्त में स्पन्दन के कारण बाहर की ओर निकलने लगते हैं। इन्हीं संस्कारों के अनुसार मनुष्य की वैसी ही बुद्धि और मन का स्वभाव बन जाता है, तथा इन्हीं कर्मों के फल को भोगता रहता है और नवीन कर्म भी करता रहता है। इन नवीन कर्मों के कर्माशय फिर बनते हैं, ये कर्माशय भविष्य में प्रकट होकर बाहर आएँगे। इसी प्रकार जन्म, आयु और मृत्यु का चक्र घूमता रहता है। जब तक चित्त पर कर्माशय बने रहेंगे, तब तक जन्म ग्रहण करना अनिवार्य है क्योंकि चित्त पर स्थित कर्माशयों के कारण मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। मोक्ष प्राप्ति करने के लिये चित्त पर स्थित कर्माशयों को पूर्ण रूप से नष्ट करके, चित्त को कर्माशयों से रहित बनाना होगा। जब तक चित्त पर अज्ञानता (अविद्या) विद्यमान रहेगी, तब तक चित्त पर कर्माशय बनते रहेंगे। अविद्या को सिर्फ ऋतम्भरा-प्रज्ञा ही नष्ट कर सकती है क्योंकि वह अविद्या की विरोधी होती है। प्रज्ञा, अविद्या को धीरे-धीरे नष्ट करके ज्ञान का प्रकाश सम्पूर्ण चित्त पर बिखेर देती है, अन्त में सम्पूर्ण चित्त ज्ञान के प्रकाश से युक्त हो जाता है। उस समय चित्त की भूमि भी नष्ट हो जाती है। फिर अभ्यासी द्वारा किये गये कर्मों के कर्माशय नहीं बनते है क्योंकि उसका चित्त ज्ञान के प्रकाश से युक्त होता है।

ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा पहले पृथ्वी तत्त्व के सामान्य स्वरूप का साक्षात्कार होता है, फिर कुछ समय बाद विशेष रूप का साक्षात्कार होता है। विशेष रूप उसे कहते है जिस परमाणु से कोई तत्त्व बना हुआ है, उसका साक्षात्कार। प्रत्येक तत्त्व का अपना-अपना परमाणु होता है, उस परमाणु का स्वरूप भी विशेष तरह का होता है, इसलिये पाँचों तत्वों के परमाणुओं का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। इसी प्रकार जल तत्त्व के सामान्य रूप का पहले साक्षात्कार होता है, फिर विशेष रूप का साक्षात्कार होता है। इसी प्रकार अग्नि तत्त्व के दोनों रूपों का क्रमशः साक्षात्कार होता है। इसी प्रकार वायु तत्त्व और आकाश तत्त्व का क्रमशः दोनों रूपों का साक्षात्कार होता है। आकाश तत्त्व के विशेष रूप का साक्षात्कार अधिक अंतराल के बाद होता है। आकाश तत्त्व का भी परमाणु होता है। मुझे आकाश तत्त्व के साक्षात्कार के समय इसका एक ही परमाणु दिखाई दिया था, उसका आकार बूँद की समान था। एक ही परमाणु होने के कारण होने के कारण इसमें रिक्तता होती है। अन्य तत्वों के साक्षात्कार के समय एक साथ कई परमाणु दिखाई देते थे।

जब वायु तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है, तब उसे समाधि अवस्था में चित्त की भूमि टूटती हुई दिखाई देती है। चित्त की भूमि टूटते समय समाधि अवस्था में जोर से आवाज सुनाई देती है, उसी आवाज के साथ समाधि टूट जाती है। तब साधक यह नहीं समझ पाता है कि आवाज कहाँ से आयी है। फिर कुछ दिनों बाद उसे समाधि अवस्था में फिर आवाज सुनाई देती है, उसे ऐसा लगता है जैसे कहीं विस्फोट हो गया है। तब साधक देखता है– उसके सामने भूमि पर गड्ढ़ा सा हो गया है, जब उसकी दृष्टि उस गड्ढे के अन्दर जाती है, तब उसे नीचे की ओर स्वच्छ निर्मल आकाश दिखाई देता है। नीचे का आकाश देखते ही आश्चर्यचकित होता है और सोचता है – नीचे भी आकाश है, ऊपर भी आकाश है! इसी प्रकार का अभ्यासानुसार धीरे-धीरे चित्त की भूमि टूटती रहती है, कुछ वर्षों तक लगातार अभ्यास करने पर चित्त की भूमि टूट-टूट कर छिन्न-भिन्न हो जाती है। अभ्यास के द्वारा जैसे-जैसे प्राण तत्त्व शुद्ध होता रहता है, वैसे-वैसे भूमि टूटती रहती है। अन्त में भूमि टूट-टूट कर नष्ट हो जाती है, तब कर्माशयों को विद्यमान होने के लिये जगह ही रह जाती है, उस समय सम्पूर्ण चित्त पर ज्ञान का प्रकाश फैला होता है इसी

ज्ञान के प्रकाश में कर्माशय नष्ट हो जाते हैं। ऐसे अभ्यासी द्वारा किये गये कर्मों के कर्माशय नहीं बनते है। इसे जीवन्मुक्त अवस्था कहते हैं। जीवन्मुक्त पुरुष के चित्त में अविद्या विद्यमान न होने के कारण उसके द्वारा किये गये कर्म निष्काम भाव से युक्त होते हैं।

ऋतम्भरा-प्रज्ञा के प्राकट्य के कुछ समय के बाद वह आकाश में सूर्य के समान प्रकट होकर ऊपर की ओर चढ़ती हुई दिखाई देती है, जैसे सुबह सूर्य आकाश में प्रकट होकर ऊपर की ओर चढ़ता है। जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता रहता है, वैसे-वैसे प्रज्ञा आकाश में ऊपर की ओर दिखाई देती है। यह आकाश चित्ताकाश ही होता है। चित्त जितना ज्यादा शुद्ध होता रहेगा, ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्रकाश उतना ही ज्यादा तेज दिखाई देगा, अर्थात् ऋतम्भरा-प्रज्ञा उतनी ही ज्यादा तेजस्वी दिखाई देगी। इसी प्रकार कई वर्षों तक अभ्यास करने पर चित्त की शुद्धता बढ़ती रहती है और ज्ञान का प्रकाश चित्त पर फैलता रहता है। कई वर्षों के बाद अन्त में सम्पूर्ण चित्त ज्ञान के प्रकाश से युक्त हो जाता है।

चित्त की भूमि टूटते समय साधक के अन्दर परा-प्रकृति का अवतरण होने लगता है। परा-प्रकृति का अवतरण साधक के अन्दर जितना ज्यादा होगा, उतनी ही उसकी प्रकृति (अपरा-प्रकृति) शुद्ध होती जाएगी। ऐसा होना अति आवश्यक भी है, क्योंकि उसे अपने चित्त को अत्यन्त स्वच्छ करना है। जब अभ्यास के द्वारा प्राण तत्त्व अत्यंत निर्मल हो जाता है, तब अन्त में उसका चित्त अत्यन्त स्वच्छ होकर पारदर्शी काँच के समान चमकने लगता है। इस अवस्था में जीवन्मुक्त पुरुष समाज का कल्याण निष्काम भाव से कर रहा होता है। अन्त में उसका चित्त स्फटिक मणि के समान शुद्ध हो जाता है, तब उसके चित्त में पूर्णरूप से परा-प्रकृति का अवतरण हो जाता है। इसके बाद जीवन्मुक्त पुरुष को शिवत्व की पदवी प्रदान कर दी जाती है, क्योंकि वह इसके योग्य हो जाता है। इस अवस्था में जीव को जीवेश्वर भी कहा जाता है।

साधकों! पाँचों तत्वों के साक्षात्कार के विषय में मैंने अपनी पुस्तक '**तत्त्वज्ञान**' में लिखा है। ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा पाँचों तत्वों के साक्षात्कार के बाद चित्त पर ज्ञान का प्रकाश फैलने लगता है। इन तत्वों के साक्षात्कार के बाद प्रकृति के वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है।

तब अभ्यासी का प्रकृति के प्रति मोह और आसक्ति का नाश होने लगता है और उसके अन्दर पर-वैराग्य का भाव प्रकट होने लगता है। उस समय अभ्यासी को धीरे-धीरे निरूद्धावस्था कुछ क्षणों के लिए प्राप्त होने लगती है। फिर अभ्यासानुसार यह अवस्था बढ़ती रहती है। ऐसा कई वर्षों तक चलता रहता है। इस अवस्था में साधक को संसार में घोर कष्ट उठाना पड़ता है। ये कष्ट अपने सगे-सम्बन्धी व समाज वालों से मिलते हैं। उस समय उसे ज्ञात होता है कि जिन्हें वह अपना समझ रहा था, वे अपने नहीं हैं। एक समय ऐसा भी आता है जब वह सिर्फ अकेला रह जाता है, मगर वह उस समय सभी प्राणियों को अपना समझने लगता है।

मुझे कुछ वर्षों में बहुत से साधक ऐसे मिले जिनका कहना है – "मेरा सहस्त्रार चक्र खुला हुआ है"। मैंने उन साधकों को बहुत समझाने का प्रयास किया, मगर मेरी बात उनकी समझ में नहीं आई। वे लगातार यही कहते रहे कि उनका सहस्त्रार चक्र खुला हुआ है। मेरे समझाने के बाद वे साधक नाराज अवश्य हो गये, क्योंकि मैंने कह दिया था कि उनका सहस्त्रार चक्र नहीं खुला हुआ है। ऐसे साधकों के लिए मैं यह अवश्य कहना चाहूँगा – सहस्त्रार चक्र विकसित होने से पहले चित्त पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा का प्राकट्य हो चुका होता है, तथा तत्वों का भी साक्षात्कार हो चुका होता है। तब साधक को संसार से सम्बन्धित जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। क्योंकि उस समय चित्त पर स्थित क्लेशात्मक कर्मों को भोगकर ज्यादा मात्रा में नष्ट कर चुका होता है, क्लेशात्मक कर्म भोगते समय इसी संसार द्वारा (समाज द्वारा) और अपनों के द्वारा कष्ट दिया जाता है। इसके बाद चित्त पर ऋतम्भरा-प्रज्ञा के प्राकट्य का समय आ जाता है। साधकों! एक बार फिर मैं अपनी बात दोहरा दूँ – सहस्त्रार चक्र का अन्तिम जन्म में क्रम-विकास होता है अर्थात् अन्तिम जन्म में खुलता है, वह ज्ञान का आयतन है। जब चित्त से अविद्या का मूल से नाश हो जाता है, तब सम्पूर्ण चित्त पर ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है अर्थात् अभ्यासी का चित्त ज्ञान के प्रकाश से युक्त हो जाता है। फिर इस संसार में जन्म ग्रहण करने का कोई कारण नहीं रह जाता है। बार-बार जन्म लेने का कारण चित्त पर स्थित अविद्या ही होती है। इस अवस्था में ऋतम्भरा-प्रज्ञा के द्वारा चित्त पर स्थित अविद्या नष्ट कर दी जाती है।

सहस्त्रार चक्र का क्रम विकास कई वर्षों में पूर्ण हो पाता है, क्योंकि प्रज्ञा का प्राकट्य होने के बाद चित्त पर स्थित अविद्या की जड़ें जो गहराई तक समाई होती है, इस अविद्या को धीरे-धीरे समाप्त कर उस स्थान पर ज्ञान का प्रकाश भर जाता है। अनन्तकाल से सभी जीव भ्रम से युक्त, परिणामी प्रकृति में आसक्त होकर कर्म करते आए हैं, इसलिये चित्त में स्थित विवरों व छिद्रों में भी अविद्या की जड़ें गहराई से विद्यमान रहती है। चित्त की भूमि नष्ट होने में कई वर्ष लग जाते है। इसका कारण एक यह भी है कि चित्त पर ज्ञान का प्रवाह निरन्तर बहने में रुकावट आ जाती है। क्योंकि अभ्यास के समय चित्त पर व्युत्थान के संस्कार प्रकट होने लगते हैं, उस समय ज्ञान के प्रवाह की निरन्तरता टूट जाती है। फिर अभ्यासी सांसारिक कार्यों को करने में लग जाता है। ऐसी अवस्था में अभ्यासी को निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये। ऐसा अभ्यासी जब सांसारिक कार्य करता है, तब उसके द्वारा समाज का कल्याण ही होता है क्योंकि वह जीवन मुक्त अवस्था को प्राप्त किये रहता है।

जब सहस्त्रार चक्र खुलने (विकसित होने) वाला होता है तब उसे आकाश में बहुत बड़ी मोटी सी कली (गुलाब की कली जैसी) निम्नमुखी हुई दिखाई देती है। कुछ समय अभ्यास के बाद यह कली और मोटी होने लगती है, फिर धीरे-धीरे ऊर्ध्वमुखी होकर विकसित होने लगती है, विकसित होते समय उसकी पंखुड़ियाँ खुलने लगती है। बहुत दिनों तक अभ्यास करने के बाद यह मोटी कली धीरे-धीरे पूर्ण विकसित हो जाती है, तब विकसित हुआ सहस्त्रदल कमल सम्पूर्ण अपरा-प्रकृति में व्याप्त हो जाता है। समाधि अवस्था में साधक को दिखाई भी देता है कि वह फूल की पंखुड़ियों के ऊपर आगे की ओर चला जा रहा है। साधक को इस प्रकार के अनुभव कई बार आते हैं। फिर कली पूर्ण विकसित होने के बाद देखता है कि वह बहुत बड़े फूल की पंखुड़ियों के ऊपर, आगे की ओर चला जा रहा है। जब वह फूल के मध्य में पहुँचता है, तब उसे दिखाई देता है – फूल के मध्य वाली चार पंखुड़ियाँ बन्द हैं, वे अभी नहीं खुली हैं, मगर शीघ्र ही वे पंखुड़ियाँ विकसित होकर खुल जाएँगी। उन चारों पंखुड़ियों के मध्य में तपे हुए स्वर्ण के समान रंग वाला पुरुष बैठा हुआ है। उसके शरीर को वह चारों पंखुड़ियाँ ढके हुए हैं। पंखुड़ियाँ कुछ समय में विकसित हो जाएँगी, ऐसा लगता है। इसका अर्थ बता रहा हूँ – चारों

पंखुड़ियों के अन्दर बैठा हुआ पुरुष स्वयं अभ्यासी ही होता है। साधकों! यह अवस्था अभ्यासी को अभी प्राप्त नहीं हुई है, कई वर्षों तक अभ्यास करने के बाद ही प्राप्त होती है।

इस अवस्था को प्राप्त अभ्यासी का जीवन जीने का तरीका विशेष प्रकार का हो जाता है, वह संसार की सुख सुविधाएँ त्याग चुका होता है, अभ्यास के समय समाज से थोड़ा दूर एकांत में रहने का प्रयास करने लगता है। इस प्रकार के अभ्यास के समय अभ्यासी को दरिद्रता भी प्राप्त होने लगती है। उसका जीवन घोर कष्टों में बीतता है, उस समय ज्यादातर समाज वाले तिरस्कृत करते रहते हैं। मगर इन सब बातों का प्रभाव अभ्यासी पर बिल्कुल नहीं पड़ता है, वह अपना अभ्यास करता रहता है।

मुझे बहुत से साधक ऐसे मिले, जिनका कहना था – "हमारे सातों चक्र खुले हुए हैं"। मैं यह सुनकर आश्चर्यचकित हो जाता हूँ कि ये क्या कह रहे हैं! मैंने उनको समझाया कि आपके सातों चक्र नहीं खुले हैं, आपको भ्रम हो गया है, मगर मेरी बात उनके समझ में नहीं आयी। उन साधकों ने हमारे शब्द तो सुन लिये, मगर उन्होंने उत्तर में कुछ नहीं कहा। मैं असत्य बोल नहीं सकता था, मैं सोचने लगा – ऐसे साधकों को मैं और क्या कहूँ जिससे उन्हें मेरी बात समझ में आ जाए और उनका भ्रम समाप्त हो जाए, क्योंकि वे अपनी आध्यात्मिक अवस्था के विषय में भ्रमित हैं।

प्राणायाम और योग का अभ्यास करने से (ध्यान से) साधक के शरीर की प्राणवायु विभिन्न अंगों में क्रियाशील होती हुई महसूस होती है। साधक जब ध्यान पर बैठता है, तब उसका मस्तक भारी-भारी व दुखता सा महसूस होने लगता है, कभी-कभी आज्ञाचक्र पर गुदगुदी सी अथवा कुछ रेंगता हुआ महसूस होता है। इस प्रकार की सभी अनुभूतियाँ प्राण तत्त्व के कारण होती हैं। जब साधक संयम पूर्वक साधना करता है, तब उसे आध्यात्मिक उन्नति महसूस होने लगती है, जैसे– प्रसन्नता की अनुभूति होना, शरीर का हल्का-हल्का महसूस होना, अनुभव आना, बन्ध लगना, कुछ चक्रों का विकसित होने लगना आदि। कुछ समय और अभ्यास करने के बाद मस्तिष्क में प्राणवायु क्रियाशील होती हुई महसूस होने लगती है। ऐसी

अवस्था में ज्यादातर सिर के ऊपरी भाग में प्राणवायु की क्रियाशीलता की अनुभूति होने लगती है। तब ज्यादातर साधक यही समझने लगते है कि उनका सहस्त्रार चक्र खुल गया है, उसी की ये अनुभूति हो रही है। इसी सोच को वह अपने अन्दर मजबूती से बाँध लेते हैं और यही समझकर जीवन जीते रहते हैं।

मैंने यह भी देखा है– कुछ साधकों का ब्रह्मरन्ध्र खुल जाता है, उन्हें भी भ्रम हो जाता है। वे सोचने लगते हैं कि उनका सहस्त्रार चक्र खुल गया है। ऐसे अभ्यासी सहस्त्रार चक्र खुलने की भारी भूल में बने रहते है। सत्य तो यह है कि वे सहस्त्रार चक्र की महिमा के विषय में नहीं जानते हैं। कुछ मार्गदर्शकों को मैं जानता हूँ जिनका सहस्त्रार चक्र नहीं खुला था और कुछ का वर्तमान में नहीं खुला हुआ है, फिर भी उनकी यही सोच बनी रही कि उनका सहस्त्रार चक्र खुला हुआ है। वर्तमान समय में भी ऐसा ही है। जिस अभ्यासी का सहस्त्रार चक्र खुल जाता है अर्थात् विकसित हो जाता है, उसके अन्दर सामान्य मनुष्य की अपेक्षा अत्यन्त उच्च श्रेणी की विलक्षण योग्यता प्राप्त हो जाती है। क्योंकि ऐसा योगी जीवन्मुक्त अवस्था वाला होता है, उसे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाता है। ऐसा तत्त्वज्ञानी जिस पर कृपा कर दे, उसका निश्चय ही कल्याण हो जाएगा। मैं यहाँ पर इस अवस्था को प्राप्त योगी की योग्यताओं का बखान नहीं करना चाहता हूँ क्योंकि सामान्य मनुष्य का मस्तिष्क उन शब्दों को स्वीकार नहीं कर पायेगा। एक अटल सत्य लिख रहा हूँ – "इस समय पृथ्वी पर मात्र कुछ ही तत्त्वज्ञानी योगी विद्यमान हैं"। इसके आगे मैं कुछ भी नहीं लिखना चाहता हूँ।

लेख के अन्त में

अज्ञानतावश मनुष्य प्राण तत्त्व के महत्त्व को पूर्ण रूप से समझ नहीं पाए हैं। इसका बहुत बड़ा कारण हमारी शिक्षा प्रणाली है। मनुष्य अपना जीवन जीते समय अन्य बहुत से कार्यों को महत्त्व देते रहते हैं, मगर अध्यात्म के रास्ते पर चलने के लिये उनके जीवन में कोई महत्त्व नहीं है। ऐसे मनुष्यों का कहना होता है – व्यस्तता से युक्त जीवन में इसके लिये समय नहीं मिल पाता है। मैं ऐसे मनुष्यों के लिये कहना चाहूँगा – महत्त्वहीन कार्यों के लिये समय निकाल लेते हो, जैसे – किसी भी स्थान पर कुछ लोग एकत्र होकर दूसरों की निन्दा करने के लिए, अकारण इधर-उधर घूमने के लिए, छुट्टी वाले दिन आलस्य में रहकर समय व्यतीत करने के लिए, टी०वी० पर उद्देश्यहीन कार्यक्रम देखने के लिए, ताश खेलने के लिए, अनावश्यक बातें करने के लिए आदि। समय मिलने पर अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाने के लिए क्यों नहीं अच्छा कार्य करें, जिससे इस जीवन के बाद भी अर्थात् मृत्यु के बाद भी सूक्ष्म शरीर से भोगा जाने वाला जीवन श्रेष्ठता को प्राप्त हो सके अर्थात् उच्चलोक की प्राप्ति हो सके।

वर्तमान समय में कुछ कमी सी महसूस हो रही है, वह कमी हमारी शिक्षा प्रणाली की है। बचपन से ही यह क्यों नहीं पढ़ाया जाता है – मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, मनुष्य जीवन का कर्तव्य क्या है, मृत्यु के बाद कहाँ जाना है? आजकल बहुत से मनुष्य यह कहते हुए मिल जाएँगे– मृत्यु के बाद कुछ भी नहीं होता है, मृत्यु के बाद कोई जीवन नहीं होता है, मृत्यु के बाद अगर कहीं अस्तित्व है तो वह दिखाई क्यों नहीं देता है? ऐसा कहने वालों का दोष नहीं है, दोष हमारी शिक्षा का है, आरम्भिक शिक्षा देते समय यह सब क्यों नहीं बताया जाता है। पहले गुरुकुल हुआ करते थे, उसमें प्रकृति से लेकर स्थूल शरीर तक के विषय में पढ़ाया जाता था, फिर योग के अभ्यास द्वारा विद्यार्थी को अन्तर्मुखी बनाया जाता था अर्थात् अन्तर्मुखी बनाने के लिये योग का अभ्यास कराया जाता था। इसलिए उस समय के मनुष्य आन्तरिक रूप से अधिक विकसित होते थे।

बहुत से मनुष्य ईश्वर के अस्तित्व को मानने के लिये तैयार ही नहीं हैं। उनका कहना होता है – "प्रकृति में सम्पूर्ण क्रियाएँ अपने आप हो रही हैं"। मैं कहता हूँ – एक छोटा सा परिवार व्यवस्थित ढंग से चलाने के लिये परिवार का मुखिया (प्रधान) होता है, बिना मुखिया के परिवार चल नहीं पाता है, किसी भी देश को व्यवस्थापूर्वक चलाने के लिये राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री होते हैं, फिर इस अनन्त सीमाओं वाले ब्रह्माण्ड में व्यवस्थापूर्वक कार्य होने के लिये उसका नियामक ईश्वर क्यों नहीं हो सकता है? अगर बचपन से ही बच्चों को घर के बुज़ुर्गों के द्वारा और पाठशाला में शिक्षकों द्वारा बताया जाता कि सूक्ष्म शरीर, सूक्ष्म इन्द्रियाँ, मन, सूक्ष्म पंचभूत, तन्मात्राएँ, अहंकार, चित्त आदि क्या है, अभ्यास के द्वारा अन्तर्मुखी होना बताया जाता, फिर अभ्यास के द्वारा उच्चावस्था प्राप्त होने पर इस प्रकार के प्रश्न ही नहीं उठते, कि ईश्वर है अथवा नहीं है।

मनुष्य का मस्तिष्क 7 से 9 प्रतिशत ही क्रियाशील हो पाता है, मस्तिष्क का शेष भाग निष्क्रिय बना रहता है। मात्र 7 से 9 प्रतिशत मस्तिष्क विकसित होने पर ही निर्णय ले लेते हैं कि प्रकृति का कोई स्वामी (ईश्वर) नहीं है। ऐसे मनुष्यों को अपना मस्तिष्क 90 से 95 प्रतिशत विकास करने का प्रयास करना चाहिये, फिर अज्ञानतापूर्ण शब्दों का प्रयोग करना स्वयं बन्द कर देंगे। यदि मनुष्य स्वयं अपना आन्तरिक विकास एक निश्चित अवस्था तक कर ले, तब उसकी सम्पूर्ण शंकाएँ स्वयं समाप्त हो जाएँगी। मनुष्य की बुद्धि की सीमाएँ जहाँ तक होती हैं, वहाँ तक वह सत्य मानता है, बुद्धि की सीमाओं से परे का सत्य स्वीकार नहीं कर पाता है। तब उसे हर सत्य, झूठ ही लगने लगता है। ऐसे मनुष्य जिन्हें ईश्वर का सत्य स्वीकार्य नहीं है, वे पहले अन्तर्मुखी होकर स्वयं अपना विकास करें, तब उन्हें स्वयं अपने विषय में और ईश्वर के विषय में ज्ञान हो जाएगा। जिस मनुष्य को स्वयं अपने विषय में ज्ञान नहीं है, वह दूसरों के विषय में कैसे जान सकता है। पहले अपने विषय में जानो, फिर दूसरे के विषय में ज्ञान हो जाएगा।

मैंने उन साधकों को समझाने की कोशिश की है जो प्राण तत्त्व के महत्त्व को नहीं जानते हैं। जब से मैं आध्यात्मिक मार्ग में आया, तब से लेकर आज तक मैंने बहुत से साधकों को

देखा है, वे समय निकाल कर ध्यान पर तो बैठते हैं और कोशिश भी करते हैं कि उनका मन एकाग्र हो, मगर ऐसा हो नहीं पाता है। मुझे बहुत-से साधक ऐसे भी मिले जिनकी योग मार्ग में आगे बढ़ने की रुचि भी है, परिश्रम भी खूब करते है, उनकी आध्यात्मिक उन्नति भी होने लगी है, मगर वे प्राणायाम के लिए समय नहीं निकाल पाते हैं, इसलिए प्राणायाम का अभ्यास नहीं करते हैं तथा कुछ साधक कठोरता से प्राणायाम का अभ्यास नहीं करना चाहते हैं आदि। मैं ऐसे साधकों से कहना चाहूँगा – प्राणायाम के महत्त्व को समझो और उसे अपने जीवन में अपनाओ, तभी आध्यात्मिक उन्नति शीघ्र सम्भव हो सकती है। जैसे – किसी भी पेड़ को बड़ा करने और शीघ्र फल प्राप्ति के लिए खाद और पानी की आवश्यकता होती है, उसी तरह अध्यात्म मार्ग में आगे बढ़ने के लिये प्राणायाम का अभ्यास अति आवश्यक है।

मनुष्य के जीवन में प्राण तत्त्व का महत्त्व बहुत ज्यादा है, जिसने प्राण तत्त्व के विषय में जान लिया, उसने सब कुछ जान लिया है ऐसा समझो। मैंने अभ्यास के द्वारा प्राण तत्त्व के विषय में जो जाना है, उसे इस पुस्तक में संक्षेप में लिखने का प्रयास किया है। पुस्तक के अन्त में थोड़ा सा कठिन विषय लिखा हुआ है, मगर इस विषय में आप सभी को थोड़ा सा बताना आवश्यक था। जन्म से लेकर मोक्ष पर्यन्त प्राण तत्त्व का बहुत ज्यादा महत्त्व होता है। जिस साधक ने प्राण तत्त्व के विषय में गूढ़ता से जान लिया, उसने चित्त की स्वच्छता की पराकाष्ठा प्राप्त कर ली है। ऐसे अभ्यासी का जीवन धन्य हो गया, उसका मनुष्य शरीर ग्रहण करना सार्थक हो गया है।

मैं पहले भी लिख चुका हूँ – आकाश तत्त्व में अधिष्ठित होकर वायु तत्त्व (प्राण तत्त्व) के द्वारा प्रकृति अपना सृजन करती है। इसलिए ब्रह्माण्ड की सम्पूर्ण कार्य प्रणाली व व्यवस्थापूर्वक व्यवहार होने के मूल में वायु तत्त्व (प्राण तत्त्व) ही विद्यमान रहता है। फिर अन्त में प्रलय के समय वायु तत्त्व अपने आप में क्रमशः सम्पूर्ण पदार्थों को समेट लेता है, फिर स्वयं अति सूक्ष्म होकर बीज रूप से आकाश तत्त्व में स्थित हो जाता है। अर्थात् आकाश तत्त्व में अन्तर्मुखी हो

जाता है, फिर अपरा-प्रकृति भी बीज रूप में परा-प्रकृति में स्थित हो जाती है। इसे ईश्वर का चित्त भी कहते हैं, अर्थात् उस समय सिर्फ ईश्वर विद्यमान रहता है।

योगी आनन्द जी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

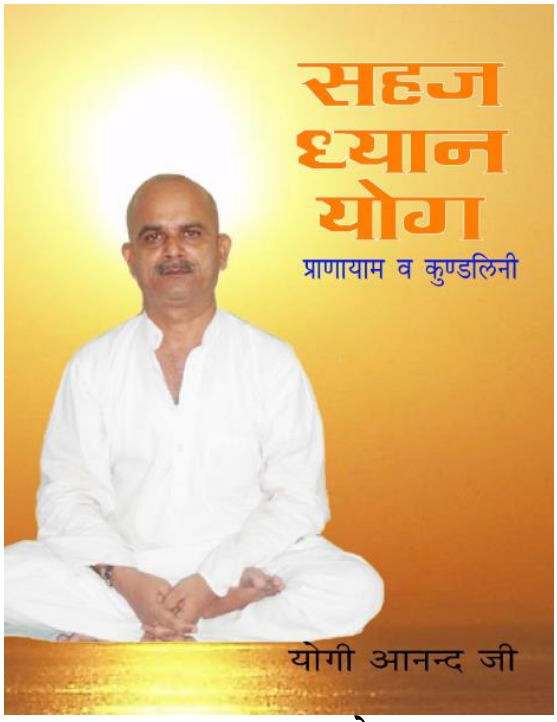

सहज ध्यान योग
(प्राणायाम व कुण्डलिनी)

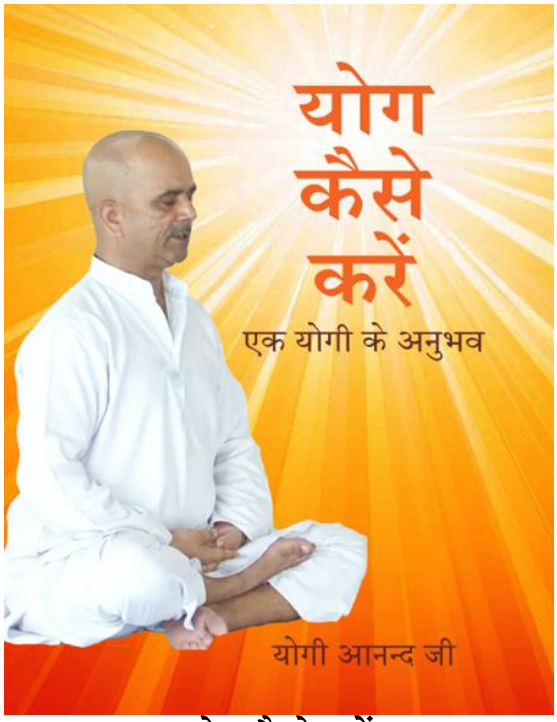

योग कैसे करें
(एक योगी के अनुभव)

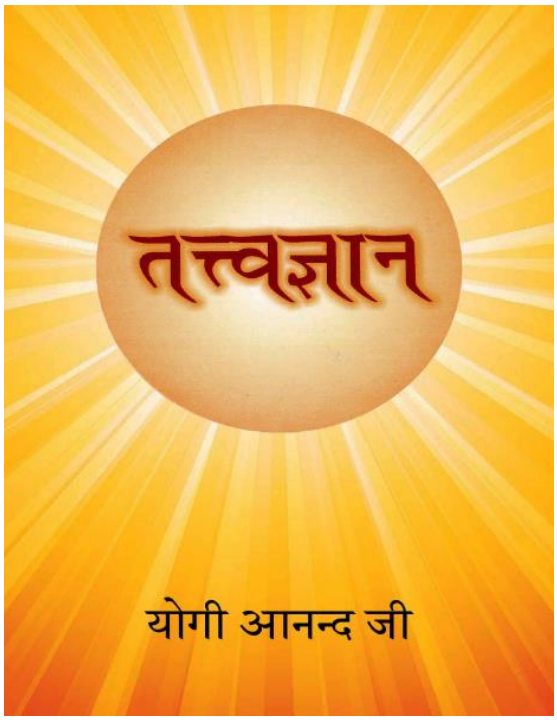

तत्त्वज्ञान

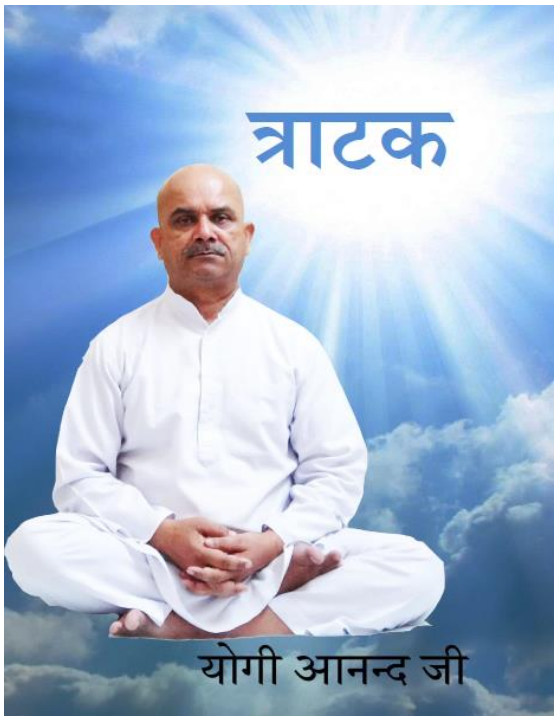

त्राटक

हे साधकों!

"सृष्टि से लेकर प्रलय तक, जन्म से लेकर मोक्ष तक प्राण तत्त्व (वायु तत्त्व) ही सदैव व्यवस्था पूर्वक क्रिया कर रहा है। मनुष्य का शरीर एक कारखाने की तरह व्यवस्थित ढंग से कार्य करता रहता है। मस्तिष्क और रीढ़ से निकलने वाली सूक्ष्म नाड़ियाँ इस शरीर में स्फूर्ति पहुँचाने का कार्य करती है, यह स्फूर्ति शुद्ध प्राण तत्त्व के द्वारा प्राप्त होती है"।

-योगी आनन्द जी

Email id: anandkyogi@gmail.com

Facebook: http://www.fb.com/sahajdhyanyog

Website: http://www.kundalinimeditation.in/

YouTube: http://www.youtube.com/c/YogiAnandJiSahajDhyanYog

ISBN 978-93-5311-171-7

9 789353 111717